सिद्ध योग

संस्थापक संरक्षक एवं सम्पादक
योगयोगेश्वर अनन्तश्री चन्द्रमोहनजी महाराज

दिसम्बर १९७७
[illegible]

श्री सिद्ध गुफा प्रकाशन
सँवाई आगरा

प्रकाशक

इस अंक में—

क्रम संख्या लेख	लेखक	पृष्ठ
१. नान्यागतिः	....	
२. योगी की सर्वाधिष्ठातृत्व एवं सर्वज्ञातृत्व शक्ति तथा कैवल्य लाभ (हमारा विशेष लेख)	योगयोगेश्वर अनन्त-श्री चन्द्रमोहनजी महाराज	२
३. पत्रम् पुष्पम्-फलम्-तोयम्	संकलित	५
४. धारणा, ध्यान और समाधि की व्याख्या	श्री कालकोबा भावे	८
५. क्रिया-योग	श्री गिरीशदेव वर्मा	९
६. नारद-पुराण के आधार पर योग-साधना	श्री हीरालाल शास्त्री	१४
७. श्री प्रभु रामलालाष्टकम् (कविता)	पं० श्री हरप्रसाद शास्त्री	१७
८. सत्यं शिवं सुन्दरम्	संकलित	१९
९. शिव-महिमा	पं० गिरधर शर्मा चतुर्वेदी	२१
१०. कृष्णा-चरित्र	ब्रह्मचारी श्री रामलाल	२३
११. योग-साधना-रहस्य	श्री दुर्गासिंह तोमर	२६
१२. साधना-पथ	श्री ओमप्रकाश पालीवाल	३२
१३. गुरु-आज्ञा और ब्रह्म-ज्ञान	श्री कैलाश उपाध्याय	३६
१४. दीक्षा एवं गुरु	श्री मानिकचन्द अमरवैश्य	३९
१५. जीव का परम ध्येय	डा० श्री विष्णुदत्त शर्मा	४४
१६. आश्रम-समाचार	एक दर्शक साधक द्वारा	४६
१७. श्री गुरुदेव जी का योग-प्रचार कार्यक्रम	टाइटिल	३
१८. धर्म की आवश्यकता	टाइटिल	४

संयुक्त सम्पादक

दिव्य

फोन ९२१६९

वार्षिक मूल्य १५ रु०, एक प्रति १/५० पैसे मात्र

वर्ष १०
अङ्क ९

दिसम्बर
१९७७

ध्यायं ध्यायं यदिह परमं ब्रह्म शुद्ध स्वभावम्,
मर्त्यो मूलांशुं न विचरतो, मुक्तिमाप्नोति सद्यः।
शास्त्राण्यर्थान् बहुविशदयन् योगशास्त्रोपदेशान्,
कल्याणानां भवतु महतां सिद्धये 'सिद्धयोगः'॥

— नान्या गतिः —

जीर्णा एव मनोरथाः स्वहृदये यातं जरा यौवनं।
हन्ताङ्गेषु गुणाश्च वन्ध्यफलतां याता गुणज्ञैर्विना।
किं युक्तं सहसाभ्युपैति बलवान्कालः कृतान्तोऽक्षमी।
हाज्ञातं मदनान्तकाङ्घ्रियुगलं मुक्त्वास्ति नान्या गतिः॥

अर्थात्

मनोरथ हृदय के हृदय ही में जीर्ण-शीर्ण हो गये, जवानी वृद्धावस्था में परिणत हो गई, गुणज्ञों के न रहने से सारे गुण अङ्ग में ही निष्फल हो गये, अब क्षमा न करने वाला बलवान् कृतान्त (यम) आ रहा है. इस अवस्था में क्या करना चाहिए ? अब तो भगवान् शङ्कर के चरण-युगल को छोड़कर और कोई दूसरी गति नहीं है ।

—भर्तृहरि

हमारा विशेष लेख—

योगी की सर्वाधिष्ठातृत्व एवं सर्वज्ञातृत्व शक्ति तथा कैवल्य लाभ

● योगयोगेश्वर अनन्त श्री चन्द्रमोहन जी महाराज

हमने अपने 'सिद्धयोग' के अक्टूबर मास के अङ्क में इन्द्रियजय की सिद्धियों का वर्णन किया था एवं उससे पहले अगस्त मास के अङ्क में इन्द्रियजय का साधन लिखा था। उसमें हमने यह समझाया था कि इन्द्रियों के ग्रहण स्वरूप अस्मिता-अन्वय एवं अर्थवत्त्व इन पांच न्यारे-न्यारे स्वरूपों में संयम करने से इन्द्रियों पर पूर्णरूपेण जय प्राप्त हो जाया करती है और जिसमें योगी संयम के बल से इन्द्रियों पर पूर्णरूपेण अधिकार प्राप्त कर लेता है अर्थात् उनके, ग्रहण स्वरूप अस्मिता-अन्वय और अर्थवत् रूपोंमें संयम करके उनकी स्वरूप सत्ता को भली प्रकार समझ करके तत्तद्विकारों में विजयी बन जाता है, तभी उसको इन्द्रियजय की सिद्धि उपलब्ध होती है और इन्द्रियजय के बाद इन्द्रियजय के प्रभाव से योगी के अन्दर तीन अद्भुत प्रकार की महाशक्तियों का उदय हो जाया करता है। इन तीनों को भगवान् पतञ्जलिदेव एक सूत्र में स्पष्ट कर रहे हैं :—

ततो मनोजवित्वं विकरणभावः प्रधान-जयश्च ।

(१) मनोजवित्वं—

अर्थात् योगी मन के वेग वाला बन जाता है। जहां-जहां उसका मन पहुँचता है वहां-वहां उसका शरीर भी पहुँच जाता है, यही मनोजवित्व सिद्धि का सही अर्थ है।

(२) विकरणभावः—

विकरणभाव का अर्थ है—पश्यत्यचक्षुः स शृणोत्यकर्णः। अर्थात् वह बिना नेत्रों के देखता है और बिना कानों के सुनता है अर्थात् आँख, नाक, कान आदि ज्ञानेन्द्रियों के वर्णभूत गोलकों के बिना ही देखना, सुनना, सूँघना, रस ग्रहण करना आदि कार्य योगी के होते रहते हैं, इसी नाम का विकरणभाव है।

(३) प्रधान जय—

अर्थात् मूल प्रकृति पर पूर्ण अधिकार प्राप्त कर लेना। जिस समय योगी अपनी इन्द्रियजय की शक्ति से प्रकृति पर अधिकार प्राप्त करता है तो उसका प्रकृति के तत्वों पर पूरा-पूरा अधिकार हो जाया करता है। यह योगी प्रकृति के सभी विश्लेषणों पर अधिकार प्राप्त करके सभी कुछ करने की ताकतों वाला बन

जाया करता है । भगवान पतञ्जलिदेव स्वयं इन भावों की पुष्टि करते हुए बतलाते हैं ।

परमाणुपरं महत्त्वान्तोस्य वशीकारः

अर्थात् योगी की संयम शक्ति इतनी बढ़ जाती है कि वह प्रकृति के सूक्ष्म तत्त्व अंश परमाणु एवं महत्तत्व अर्थात् मूल प्रकृतिपर्यन्त उसका सब प्रकार से पूर्ण अधिकार प्राप्त हो जाया करता है । यही प्रणाम जय का निष्कार्षिक अर्थ है । जिस समय योगी संयम के बल से प्रकृति पर पूर्ण अधिकार प्राप्त करता है तो उसको पूर्णरूपेण प्रकृति विवेक हो जाता है अर्थात वह योगी यह भली प्रकारसे जानता है कि प्रकृति अलहदा है और पुरुष अलहदा है । मैं प्रकृति से भिन्न नित्य चेतन आत्मा हूँ । मेरी चेतन-सत्ता के आधीन ही प्रकृति की सभी हरकतें हो रही हैं । संयम के बल से योगी के मन में जब ऐसी धारणा हो जाती है तब योगी को भावाधिष्ठातृत्व एवं सर्वज्ञातृत्व शक्ति का पूर्णरूपेण उदय हो जाया करता है । भगवान पतञ्जलिदेव के शब्दों में—

सत्त्वपुरुषान्यताख्यातिमात्रस्य सर्वभावाधिष्ठातृत्वं सर्वज्ञातृत्वं च ॥

अर्थात् योगी को प्रकृति पुरुष विवेक प्राप्त हो जाने के बाद उसको प्रकृति पर सर्वभावाधिष्ठातृत्व एवं सर्व ज्ञातृत्वेन पूर्ण अधिकार प्राप्त हो जाया करता है। इस पर पढ़िये व्यास भाष्य की पंक्तियाँ—

निर्धूतरजस्तमोमलस्य बुद्धिसत्त्वस्य परे वैशारद्ये परस्यां वशीकारसंज्ञायाम् वर्तमानस्य सत्त्व पुरुषान्यताख्यातिमात्ररूप प्रतिष्ठस्य सर्वभावाधिष्ठातृत्वं सर्वात्मनो गुणा व्यवसायव्यवसेयात्मकाः स्वामिनं क्षेत्रज्ञं प्रत्यशेष दृश्यात्मत्वेनोपतिष्ठन्त इत्यर्थः, सर्वज्ञातृत्वं सर्वात्मना गुणानां शान्तोदिताव्यपदेश्यधर्मत्वेन व्यवस्थितानामक्रमोपारूढं विवेकजं ज्ञानमित्यर्थ, इत्येषा विशोकानाम सिद्धिः, याम्प्राप्य योगी सर्वज्ञः क्षीणक्लेशबन्धनो वशी विहरति ।

अर्थात जिस योगी के रज तम रूपी मल सात्विक बुद्धि के प्रकाश में वैराग्य युक्त होकर वर्तमान होने पर बुद्धि और पुरुष की विवेक समाधि रूप स्थिति में स्थित हो जाने पर सर्वभावाधिष्ठातृत्व नाम की ताकत एवं अन्तःकरण के निश्चित अनिश्चित सभी प्रकार के अनुभव करने वाले योगी को हर वक्त ज्ञात रहते हैं, इसीसे योगीका सर्वज्ञातृत्व अधिकार बढ़ जाता है । अन्तःकरण के सर्व धर्म भूत भविष्य एवं वर्तमान में होने वाले उन सभी का योगी को बुद्धि विवेक के द्वारा पूर्ण ज्ञान रहता है । इस प्रकार यह विशोका नाम की सिद्धि योगी को प्राप्त हो जाती है ऐसा योगी सभी क्लेश बन्धनों को क्षीण करके स्वेच्छा गति से स्वतन्त्र विचरने वाला होता है । यही योगी का परम वैशारद्य है । इसको प्राप्त हो करके सभी मोह बन्धनों से छूट कर योगी अपने को परम भाव में स्थित देखता है । वह भली प्रकार से जान लेता है कि मैं अब अपनी प्राप्त वस्तु को पा चुका हूँ । किन्तु अनुभव करने वाली बुद्धि अभी उसके अन्दर मौजूद है जो इस समाधि की परास्थिति रूप से स्थित

है। उसके विलय होने के बाद ही योगी कैवल्य प्राप्त कर सकेगा। अब भी इसकी ये स्थिति कैवल्य जैसी ही है। यह वृत्ति इस प्रकार की है जिसने रज तम आदि के घोर मलों को तो खत्म कर डाला किन्तु स्वयं अन्यताख्यातिमात्र बीज से विद्यमान है। जब तक यह वृत्ति रहेगी तब तक कर्तृत्व भाव बीज-रूप से कायम है ही। जब योगी इस दोष बीज को क्षय कर डालेगा तब वह यथार्थ रूप में स्वरूप स्थित हो जायेगा। इसका उदाहरण इस प्रकार समझ लेना चाहिए, जिस तरह अग्नि की चिनगारी सभी गीले सूखे काष्ठों को जलाकर स्वयं भी समाप्त हो जाया करती है। इसी प्रकार से 'सत्व पुरुषान्यता-ख्यातिमात्रस्य' यह वृत्ति भी आत्मा को स्व-रूप स्थित कर स्वयं भी स्व-स्वरूप में विलीन हो जाया करती है। तभी योगी का यथार्थ कैवल्य है। इसी भाव को भी पतंजलि जी महाराज अपने शब्दों में अभिव्यक्त कर रहे हैं—

तद्वैराग्यादपि दोषबीजक्षये कैवल्यम् ।

व्यास भाष्य इस सूत्र पर—

यदाऽस्यैवं भवति क्लेशकर्मक्षये सत्त्व-स्यायं विवेक प्रत्ययोधर्मः, सत्त्वं च हेय-पक्षे न्यस्तं पुरुषश्चापरिणामी शुद्धोऽन्य सत्त्वादिति, एवं अस्य ततो विरज्यमान-स्य यानि क्लेशबीजानि दग्धशालिबीज कल्पान्यप्रसवसमर्थानि तानि सह मनसा प्रत्यस्तं गच्छन्ति ।

अर्थात् जब योगीको इस प्रकार बोध हो जाता है तब बुद्धि सत्व का भी विवेक ज्ञान का यह धर्म है। क्योंकि क्लेश कर्म के क्षय हो जाने पर बुद्धि सत्व ही अवशेष रह जाता है और वह एक प्रकार से क्लेश कर्म निवृत्ति के लिए साधन रूप ही है। अतः यह भी हेय पक्ष में ही है। क्योंकि पुरुष अपरिणामी है और बुद्धि सत्व से अलहदा है। इस प्रकार से पुरुष के अपरिणामी एवं बुद्धि सत्व से भिन्न होने के कारण इस बुद्धि सत्व से भी विरक्त हो जाने पर भुने हुए धान की तरह से यह मन के साथ स्वतः ही खत्म हो जाते हैं। एवं अपरि-णामी पुरुष बुद्धि सत्व से विमुक्त होकर कैवल्य लाभ करता है। कैवल्य की परिभाषा भगवान पतंजलिदेव ने विभूति-पाद के पिछले सूत्र में—

सत्त्व पुरुषयोः शुद्धि साम्ये कैवल्यमिति ।

कह कर ही कैवल्यता की अभिव्यक्ति की है अर्थात् जिस समय प्रकृति और पुरुष की शुद्धि बराबर हो जाती है जीवात्मा अपने अपरि-णामी स्वरूप में स्थित हो जाता है और गुणों का गुणोंमें अवस्थान हो जाता है। तभी योगी को कैवल्य लाभ होता है। इसी का नाम स्व-रूप प्रतिष्ठा है। ऐसी स्थिति आ जाने पर पुरुष अमल निर्मल ज्योति कैवली भावमें रहता है क्लेश-कर्म क्षीण हो जाने के कारण स्थिति में उसके ऊपर गुणों का कोई प्रभाव नहीं पड़ता, अर्थात् चित्त शक्ति अपरिणामिनी अप्र-तिसंक्रमा होकर कैवल्य लाभ करती है। इसी स्थिति में आ करके योगी जन्म-मरण के एवं तरह-तरह के भोगों से छूट कर अपने स्वरूप में स्थित होता है।

पत्रम्-पुष्पम्-फलम्-तोयम्

पुनर्ग्रामाः पुनःक्षेत्रं पुनर्वित्तं पुनर्गृहम् ।
पुनः शुभाशुभं कर्म न शरीरं पुनःपुनः ॥

ग्राम, क्षेत्र, धन, मकान और शुभ-अशुभ कर्म बार-बार मिल सकते हैं, किन्तु यह मानव शरीर बार-बार नहीं मिलता ।

× × ×

शरीर रक्षणायासः क्रियते सर्वदा जनैः ।
नहीच्छन्ति तनुत्यागमपि कुष्ठादि रोगिणः ॥

इसी से प्रत्येक मनुष्य अपने शरीर की रक्षा के लिए सदा ही प्रयत्नशील रहता है। यहां तक कि कोढ़ आदि रोगों से पीड़ित भी अपने शरीर को त्यागना नहीं चाहते ।

× × ×

तद्गोपितं स्याद्यत्नेन धर्मज्ञानार्थ मेव च ।
ज्ञानं च ध्यानं योगश्च सोऽचिरात्परिमुच्यते ॥

अतएव धर्म, ज्ञान और ध्यान के निमित्त ही शरीर की यत्नपूर्वक रक्षा करे, क्योंकि इन्हीं से मोक्ष सिद्धि सत्वर होती है ।

× × ×

आत्मैव यदि नात्मानमहितेभ्यो निवारयेत् ।
कोऽन्यो हितकरस्तस्मादात्मानं तारयिष्यति ॥

यदि अपने को स्वयं ही बुराइयों से न बचाया जाय तो फिर कौन दूसरा रक्षा के लिए आयेगा ?

× × ×

इहैव नरक व्याधेश्चिकित्सां न करोति यः ।
गत्वा निरौषधं स्थानं व्याधिस्थः किं करिष्यति ?

जो मनुष्य इस जन्म में ही नरक रूपी व्याधि की चिकित्सा नहीं करता, वह रोगाकुल फिर औषध-रहित स्वर्ग में जाकर उसकी क्या चिकित्सा कर सकता है ? अर्थात् जन्म-मृत्यु-जरा आदि व्याधियों की चिकित्सा इस मनुष्य जन्म में ही सुलभ है अन्यत्र नहीं।

× × ×

यावत्तिष्ठति देहोऽयं तावत्तत्त्वं समभ्यसेत् ।
संदीप्ते भवने को वा कूपं खनति दुर्मतिः ॥

जब तक यह शरीर विद्यमान है तभी तक ईश्वर-प्राप्ति के लिए यथाशक्ति प्रयत्न करना चाहिए, क्योंकि मकान में आग लग जाने पर कौन मूर्ख व्यक्ति कुआ खोदता है ? अर्थात् जो कुछ करना है इसी जन्म में करें।

× × ×

व्याघ्रीवास्ते जरा चायुर्याति भिन्न घटाम्बुवत् ।
निघ्नन्ति रिपुवद्रोगा स्तस्माच्छ्रेयः समाचरेत् ॥

मनुष्य को बुढ़ापा शेरनी के समान आ दबाता है। आयु फूटे घड़े के जल की भाँति नष्ट हो जाती है और जरा-मृत्यु आदि रोग शत्रु की भाँति शरीर पर आक्रमण करते हैं इसलिए (यथाशक्ति) शुभ कार्य करने चाहिए (जिससे कल्याण होवे)।

× × ×

यावन्नाश्रयते दुःखं यावन्नायान्ति चापदः ।
यावन्नेन्द्रिय वैकल्यं तावच्छ्रेयः समाचरेत् ॥

जब तक यह शरीर (किसी प्रकार के) दुःख और मुसीबतों से अछूता है और तमाम इन्द्रियाँ अच्छी प्रकार से कार्य करती हैं, तब तक इस शरीर से आत्म-कल्याण के शुभ कार्य करते रहना चाहिए।

× × ×

कालो न ज्ञायते नाना कार्यैः संसार संभवः ।
सुख दुःख रतो जन्तुर्नवेत्ति हितमात्मनः ॥

मानव विविध सांसारिक कार्यों तथा सुख-दुःखों में काल को भूल जाता है और वह सर्वप्रिय आत्मीय हितसे भी विमुख होता है, किन्तु काल उसे मार देता है, अर्थात् माया में अनुरक्त रहते ही जीव को काल मार डालता है। —कुलार्णव तन्त्र

धारणा, ध्यान और समाधि की व्याख्या

[श्री बालकोबा भावे]

देशबन्धः चित्तस्य धारणा—

दिनभर मन में असंख्य प्रत्यय उठते रहते रहते हैं। वे प्रायः सांसारिक विषयों के ही होते हैं। मन को इन्हीं प्रत्ययों की आदत लगी हुई है। इसी में जीवात्मा को आनन्द आता है। लेकिन अन्त तक ये सांसारिक या लौकिक विषय के प्रत्यय शांति नहीं देते। साधक शांति के लिए साधना करता है। यम-नियमों का अनुष्ठान करके, आसन लगा कर, प्राण और इन्द्रियों के द्वार बन्द कर देने के बाद मन का द्वार बन्द करना होता है। इसी का नाम 'धारणा' है। इसके लिए जगत के किसी भी विषय में चित्त को लीन करने से काम नहीं चलेगा। साधक को तो समाधि के द्वारा शांति के सागर में मग्न होना है। इसलिए दुनिया के सब प्रत्ययों को हटा कर केवल आत्मा या ईश्वर का ही चिंतन यथाशक्य तक करते रहने का अभ्यास करना होगा। राम, कृष्ण, बुद्ध या ऐसी ही किसी विभूति की मूर्ति के गुणों का चिन्तन करना भी 'धारणा' ही है। धीरे धीरे गुणों का चिन्तन कम करके, केवल साकार मूर्ति में लीन हो जाना चाहिए। साथ में नाम जप तो होना ही चाहिए। लेकिन ईश्वर या आत्मा का तात्विक चिन्तन करने में चित्त को तन्मयी लीन रखना भी 'धारणा' का ही अभ्यास है। इनमें से जो अनुकूल हो, उसी का अभ्यास करना अच्छा है।

इस प्रकार किसी भी मूर्ति, आत्मा या ईश्वर के चिन्तन में तल्लीन हो जाने के बाद 'ध्यान' का अभ्यास करना होता है।

तत्र प्रत्ययैकतानता ध्यानम्—

ध्यान में आत्मा या ईश्वर के चिन्तन में या मूर्ति-विशेष के गुण-चिन्तन में तल्लीन हो जाने का अभ्यास अभिप्रेत है। इस अभ्यास का परिणाम यह होगा कि सांसारिक या जागतिक विचार मन में उतनी देर तक उठेगा नहीं। इसका अर्थ यह कि धारणा में मन का द्वार बन्द हो जाता है। इस प्रकार प्राण, इन्द्रियां और मन—शरीर के इन तीनों द्वारों के बन्द हो जाने पर भीतर जीव का केवल आत्म-स्वरूप ही रह जाता है। यही आत्मा या साक्षी बाहर ब्रह्माण्ड में भी है। उसे 'ईश्वर' कहते हैं। आत्मा या ईश्वर के रूप में यह जो जीव का अपना स्वरूप है, उसी के प्रत्यय की धारा बहने देने का अभ्यास धारणा के बाद करना होता है, वही ध्यान-जन्य चित्तवृत्ति-निरोध की भूमिका है। इसमें एक आसन पर बैठकर आँखें बन्द करके आत्म-प्रत्यय की धारा का अनुभव करना होता है। प्रथम पाद में जो योगात्मक चित्तवृत्ति-निरोध बताया है, वह

जागृति-काल या जागृदवस्था में सभी सात्त्विक व्यवहारों के साथ-साथ अनुभव में आने वाला है। उसमें सृष्टि का अनुभव नष्ट नहीं होता, परन्तु इस ध्यान में सृष्टि के प्रत्ययों को नष्ट करके आत्मानुभव करने की चेष्टा है। योग में सृष्टि के प्रत्ययों का अनुभव करते हुए आत्मा या ईश्वर का अनुभव करना है। ध्यान-भूमिका के बाद योग-भूमिका प्राप्त हो सकती है। इस तरह तैलधारावत् अविच्छिन्न, अखण्ड आत्म-प्रत्यय की धारा एक घण्टे तक बहने का अनुभव होता है तो उसी समय उसे मालूम हो जाता है कि सच्ची शान्ति या सुख किसमें है और तब उसके मन में यह बात ठीक तरह जम जायेगी कि सृष्टि के पाँच विषयों में कोई सुख नहीं है। इस आत्म-प्रत्यय की धारा में 'मैं देह से भिन्न हूँ' यह स्पष्ट प्रतीत हो जाता है। सम्प्रज्ञात-भूमिका में जो अस्मिता-निरोध बताया है और ध्यान में जो आत्म-प्रत्यय की धारा बताई है, दोनों का अर्थ एक ही है।

तदेव अर्थमात्र-निर्भासम् स्वरूपशून्यम् इव समाधिः —

ध्यान में आत्म-प्रत्यय की धारा बहने लगती है, लेकिन उसमें ध्याता, ध्येय और ध्यान ऐसी त्रिपुटी रहती है। यह भेद आत्म-प्रत्यय की धारा में लीन होते-होते नष्ट हो जाता है, फिर केवल ध्येयरूप आत्मतत्त्व ही शेष रहता है। ध्याता यानी ध्यान करने वाला जीवात्मा और उसका ध्यान दोनों ध्येयरूपी आत्मतत्त्व में खो जाते हैं। इस अवस्था में जीवात्मा का लय हो जाने के कारण उतनी देर तक देह के साथ उसका सम्बन्ध छूट जाता है, इसलिए उस समय देह के किसी अवयव को काटने पर भी कुछ पता नहीं लगेगा। यह महान् आनन्द की अवस्था है, लेकिन यह समाधि की भूमिका मोक्षकी स्थिति नहीं है। जीवात्मा इस समाधि-स्थिति में अपना जीव-स्वरूप खो देता है। लेकिन व्युत्थान-काल में जीवात्मा अपने जीव-स्वरूप को आत्म-स्वरूप में विलीन करके मृत्यु पर्यन्त अपना जीवन व्यतीत करता है, तभी उसको मोक्ष मिल सकता है अन्यथा नहीं। यह ध्यान में रखना जरूरी है कि हरि-दर्शन रूप निर्वितर्का समापत्ति और यह ध्यानजन्य समाधि दोनों का स्वरूप-वर्णन एक-सा लगता है, लेकिन इन दोनों समाधियों में जो भेद है, वह समझ लेना चाहिए। इस ध्यान-जन्य समाधि में जीवात्मा अपना स्वरूप आत्मा में शून्य कर देता है और सृष्टि भी शून्य हो जाती है, इसलिए यह अवस्था जागृति-काल की नहीं है। हरि-दर्शनरूप समापत्ति में जीव स्वरूप का लय नहीं होता। सृष्टि का बाह्य नाम-रूप-आकृति का स्वरूप शून्यवत् होता है और उसमें निहित ईश्वरीय तत्त्व में जीवात्मा तल्लीन होता है, यह जागृति-कालकी अवस्था है। इसमें जीवात्मा देह से अलग ब्रह्म की स्थिति में रहकर देह सहित सारी सृष्टि को हरिरूप देखता है। अपने को या सृष्टि को इस अवस्था में खोना नहीं है, लेकिन ध्यान जन्य समाधि में अपने को और सारे विश्व को खो देता है, इतना अन्तर इन दोनों समाधियों में है। यह सबीज समाधि है निर्बीज नहीं, क्योंकि जीव-स्वरूप उतनी देर तक शून्य हो जाता है पर समाधि में से जागने के बाद फिर उसका वही पुराना स्वरूप विद्यमान रहता है।

—ॐ॥ॐ—

गतांक से आगे –

क्रिया योग-७

श्री गिरीशदेव वर्मा

शारीरिक तप—

देव द्विज गुरु प्राज्ञ पूजनं शौचमार्जवम्।
ब्रह्मचर्यमहिंसां च शारीरं तप उच्यते ॥

(४) ब्रह्मचर्य —

ब्रह्मचर्य यम के अन्तर्गत एक महान् व्रत है। ब्रह्मचर्य के सम्बन्ध में सभी मनीषियों व विद्वानों ने बहुत कुछ कहा है। उसी बात को दुहराना उचित नहीं है। क्रिया-योग के अन्तर्गत तप की साधना करते हुए किस प्रकार के ब्रह्मचर्य का पालन किया जावे, इस सम्बन्ध में मैं दो-चार बातें कहूँगा।

ब्रह्मचर्य के दो अर्थ होते हैं। इन्द्रिय संयम करते हुए वीर्य की रक्षा करना यह प्रथम अर्थ हुआ। दूसरा अर्थ हुआ ब्रह्मचर्य में आचरण करना अर्थात् हर समय यह भावना बनाये रखना कि मैं ब्रह्म की गोद में सुरक्षित हूँ।

जिस देश में प्रत्येक बालक के लिए ब्रह्मचर्य अनिवार्य था, जिस जाति की सद्गति के चार नियमित आश्रमोंमें ब्रह्मचर्य सबसे पहला था, उसी देश में आज ब्रह्मचर्य का अभाव हो गया है। जिस देश के शिशु सिंहों के साथ खेलते थे, जिस देश के शिशुओं के पदाघात से पहाड़ की चट्टानें चकनाचूर हो जाती थीं, उसी देश में आज युवक व युवतियां निर्वीर्य व सत्वहीन दिखाई पड़ने लगी हैं। जिस देश में शास्त्रों ने सन्तति निरोध के लिए ब्रह्मचर्य का साधन मुख्य बताया था, उसी देश में परिवार नियोजन के लिये नसबन्दी का प्रचार कितना भद्दा व घिनौना है। यह प्रक्रिया वीर्य पात के लिये खुली छूट देती है। शायद ऐसे पश्चिमी विद्वानों ने अपने अपरिपक्व ज्ञान के आधार पर ब्रह्मचर्य के सम्बन्ध में बहुत सी अनर्गल बातें कह डाली हैं। उनका कहना है कि कोई मनुष्य पूर्ण ब्रह्मचारी नहीं हो सकता है और ऐसा प्रयास करने वाले का मस्तिष्क खराब हो जाता है और अनेक रोग घेर लेते हैं, किन्तु उन्हें पता नहीं है कि हमारे भारतवर्ष में अनेकों नैष्ठिक ब्रह्मचारी हो गये हैं। भक्त राज हनुमान जी और भीष्म पितामह के ब्रह्मचर्य का प्रताप जगत-प्रसिद्ध है। वर्तमान समय में स्वामी दयानन्द सरस्वती आदर्श ब्रह्मचारी हो गये हैं। आज भी अनेकों महात्मा योगी पूर्ण ब्रह्मचर्य का व्रत लेकर साधना में रत हैं। न तो उनका दिमाग खराब है और न वे रोगी हैं, अलबत्ता जिसने अपनी स्वादेन्द्रिय पर काबू नहीं पाया है उसे ब्रह्मचर्य

पालन में कठिनाई पड़ेगी। वीर्य रक्षा का मुख्य उपाय आहार-विहार है। इस सम्बन्ध में हम थोड़ी शास्त्रीय चर्चा करेंगे। वाग्भट्टजी कहते हैं :—

ओजस्च तेजो धातूनां,
शुक्रान्तानां परं स्मृतम्।
हृदयस्थमपि व्यापि,
देहस्थिति निबन्धनम्॥
यस्य प्रवृद्धौ देहस्य,
तुष्टि-पुष्टि बलोदयाः।
यन्नाशे नियतो नाशो;
यस्मिंस्तिष्ठति जीवनम्॥
निष्पाद्यन्ते यतो भावा,
विविधा देह संश्रयाः।
उत्साह प्रतिभा धैर्य,
लावण्य सुकुमारताः॥

अर्थ—रस से लेकर वीर्य तक सातों धातुओं का जो तेज है उसे ओजस् कहते हैं। ओजस् प्रधानतया हृदय में रहता है, पर वह समस्त शरीर में व्याप्त है। ओजस की वृद्धि से ही तुष्टि-पुष्टि और बल की उत्पत्ति होती है। ओजस के नाश से ही मृत्यु होती है। यह ओजस् पदार्थ ही जीवन का आधार है, इसी से उत्साह, प्रतिभा, धैर्य, लावण्य और सुकुमारता की प्राप्ति होती है।

यह ओजस् कहां से आता है? महर्षि सुश्रुत जी कहते हैं—

रसादीनां शुक्रान्तानां धातूनां यत्परं तेजस् तत् खल्वोजस्तदेव बलमिति।

अर्थात् रस से शुक्र तक सातों धातुओं के परम तेज भाग को ओजस् कहते हैं, यही बल है। यह ओजस् कैसा है और कहां रहता है? शार्ङ्गधर का वचन है——

ओजः सर्वशरीरस्थं स्निग्धं,
शीतं स्थिरं सितम्।
सोमात्मकं शरीरस्य,
बलपुष्टिकरं मतम्॥

अर्थात् ओजस् सारे शरीर में रहता है। वह स्निग्ध, शीतल, स्थिर, श्वेतवर्ण, सोमात्मक और शरीर के बल तथा पुष्टि का देने वाला है।

इससे सिद्ध हो गया कि इस ओजस् की उत्पत्ति वीर्य से होती है। अतएव वीर्य ही जीवन धारण का प्रधान उपादान है, यही जीवन का प्रधान अवलम्बन है। अब यह जानना चाहिए कि वीर्य क्या है और उसकी उत्पत्ति कैसे होती है? आयुर्वेद के अनुसार शरीर में सप्त धातुओं का रहना आवश्यक है। ये पदार्थ मनुष्य जीवन को धारण करते हैं, इसी से इन्हें धातु कहते हैं।

एते सप्त स्वयं स्थित्वा,
देहं दधति यन्नृणाम्।

रसासृङ्मांसमेदोऽस्थि,
मज्जा शुक्राणि धातवः ॥

रस, रक्त, मांस, मेद, अस्थि, मज्जा और शुक्र (वीर्य)—ये सात पदार्थ स्वयं स्थित रहकर मनुष्य की देह को धारण करते हैं। मनुष्य जो कुछ भी खाता-पीता, शरीर पर लगाता या सूंघता है वह शरीर में जाकर सबसे पहले रस की उत्पत्ति करता है और उसी से क्रमशः अन्य धातुयें बनती हैं।

रसाद्रक्तं ततो मांसं,
मांसान्मेदः प्रजायते।
मेदसोऽस्थि ततो मज्जा-
मज्जायाः शुक्रसम्भवः ॥

भोजन का सबसे पहले रस बनता है, रस से रुधिर, रुधिर से मांस, मांस से मेद, मेद से अस्थि, अस्थि से मज्जा और मज्जा से सार पदार्थ बनता है।

एक धातु के पचकर दूसरी धातु बनने में पांच दिन लगते हैं। सार पदार्थ तो शरीर में रह जाता है और पाचन की प्रत्येक क्रिया में बचा हुआ कूड़ा, कचरा, मल-मूत्र, पसीना, मैल, नाखून तथा बालों के रूप में बाहर निकल जाता है। वीर्य बनते ही उसकी पाचन-क्रिया रुक जाती है और वह सार-पदार्थ ओजस् के रूप में शरीर में स्थित रहता है। इस प्रकार रस से लेकर वीर्य बनने में प्रत्येक धातु में पांच दिन के हिसाब से छः धातुओं के पकनेमें तीस दिन लगते हैं। आज के खाये हुए पदार्थका तीसवें दिन वीर्य बनता है। पक्के चालीस सेर भोजन से एक सेर रक्त बनता है और उससे दो तोला वीर्य बनता है, प्रति दिन पक्का एक सेर खाने वाला मनुष्य भी एक महीने में तीस सेर ही पदार्थ खाता है। कायदे के हिसाब से तीस सेर खुराक से एक महीने में डेढ़ तोला वीर्य बनता है, यह महीने भर की कमाई है। एक बार के स्त्री सहवास में डेढ़ तोले से कम वीर्य नहीं जाता। अब विचार करना चाहिए कि जो महीने भर की कमाई एक क्षण में खो देता है उसका दिवाला निकलने में क्या देर लगती है। शास्त्रों में कहा है

शुक्रं सौम्यं सितं स्निग्धं,
बलं पुष्टिकरं स्मृतम्।
गर्भं बीजं वपुः सारो,
जीवनाश्रय उत्तमः ॥

वीर्य, सौम्य, श्वेत, स्निग्ध, बल और पुष्टिकारक, गर्भ का बीज, शरीर का श्रेष्ठ सार और जीवन का प्रधान आश्रय है।

यथा पयसि सर्पिस्तु,
गुडश्चेक्षुरसे यथा।
एवं हि सकले काये,
शुक्रं तिष्ठति देहिनाम् ॥

वीर्य सबके शरीर में उसी प्रकार से व्यापक

है जैसे दूध में घी और ईख के रस में गुड़ व्यापक रहता है।

इसलिए जैसे दूध में से मक्खन निकालने में दूध मथना और ईख से गुड़ बनाने में ईख को निचोड़ना पड़ता है, वैसे ही एक वीर्य को निकालने में सारे शरीर को मथना या निचोड़ना पड़ता है। जैसे घी निकालने के बाद दूध सारहीन, निस्तेज और ईख का डण्ठल खोखला तथा चूर-चूर हो जाता है, वैसे ही वीर्य के निकलने से शरीर सारहीन, निस्तेज, खोखला और चूर-चूर हो जाता है। शरीर की तमाम नाड़ियाँ ढीली पड़ जाती हैं। वीर्य के पतन से मनुष्य का पतन है। वीर्य धारण को ही ब्रह्मचर्य कहते हैं। शिव संहिता में लिखा है—

मरणं बिन्दु पातेन,
जीवनं बिन्दु धारणात्।
तस्मादति प्रयत्नेन,
कुरुते बिन्दु धारणम्॥

बिन्दुपात से ही मृत्यु है और इस बिन्दु के धारण से ही जीवन है। अतएव अति प्रयत्नपूर्वक बिन्दु धारण करना चाहिए।

भगवान् शिव जी इसी ब्रह्मचर्य के प्रताप से इतने प्रभाव-सम्पन्न हैं, जो हलाहल विष को पीकर भी स्वस्थ रह सके। यह सब महात्म्य कामदेव पर विजय करने का ही है। भगवान् शिव स्वयं कहते हैं :—

सिद्धे बिन्दौ महायत्ने,
किं न सिद्धयति भूतले।
यस्य प्रसादात् महिमा,
ममाप्येतादृशोऽभवत्॥

जिसके प्रभाव से सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड में मेरी ऐसी महिमा हुई है। उस बिन्दु के धारण से जगत में कौनसा कार्य ऐसा है जो सिद्ध नहीं हो सकता।

ब्रह्मचर्य के सम्बन्ध में महात्मा गांधी जी के विचार भी बड़े सुन्दर हैं। वे कहते हैं--

ब्रह्मचर्य का मूल अर्थ सब याद रखें। ब्रह्मचर्य अर्थात् ब्रह्म में चर्या। इस मूल अर्थ से सर्व इन्द्रिय संयम का विशेष अर्थ निकलता है, सिर्फ जननेन्द्रिय संयम के अधूरे अर्थ को तो हम भुला ही दें। विषय मात्र का निरोध ही ब्रह्मचर्य है, जो अन्य इन्द्रियों को जहाँ-तहाँ भटकने देकर केवल एक ही इन्द्रिय को रोकने का प्रयत्न करता है, वह निष्फल प्रयत्न करता है। कान से विकार की बातें सुनना, आँख से विकार उत्पन्न करने वाली वस्तु देखना, जीभ से विकारोत्तेजक वस्तु चखना, हाथ से विकारों को भड़काने वाली चीज को छूना और साथ ही जननेन्द्रिय को रोकने का प्रयत्न करना। यह तो आग में हाथ डालकर जलने से बचाने का प्रयत्न करने के समान हुआ। इसीलिये जो जननेन्द्रिय को रोकने का निश्चय करे और उसे पहले से ही प्रत्येक

इन्द्रिय को उसके विकारों से रोकने का निश्चय कर ही लेना चाहिए। मैंने सदा से यह अनुभव किया है कि ब्रह्मचर्य की संकुचित व्याख्या से नुकसान हुआ है। मेरा यह निश्चित मत है कि यदि हम सभी इन्द्रियों को एक साथ वश में करने का अभ्यास करें तो जननेन्द्रिय को वश में करने का प्रयत्न सफल हो जाता है। इसमें मुख्य स्वाद इन्द्रिय है। मेरा अपना अनुभव तो यह है कि यदि अस्वाद व्रत का भली-भांति पालन किया जावे तो जननेन्द्रिय का संयम आसान हो जाता है। स्वादकी दृष्टि से किसी वस्तु को न खाकर आवश्यकता के विचार से लेना अस्वाद है।

ब्रह्मचर्य का पालन मन, वचन और काया से होना चाहिए। हमने गीता में पढ़ा है कि जो शरीर को काबू में रखता हुआ जान पड़ता है पर मन से विकार का पोषण किया करता है, वह मूढ़, मिथ्याचारी है। मन को विकार-पूर्ण रहने देकर शरीर को दबाने की कोशिश करना हानिकारक है। जहाँ मन है वहाँ अन्त को शरीर भी घिसटे बिना नहीं रहता। यहाँ एक भेद समझ लेना जरूरी है। मनको विकार वश होने देना एक बात है और मन का अपने आप अनिच्छा से बलात् विकार को प्राप्त होना दूसरी बात है। इस विकार में हम सहायक न बनें तो जीत हमारी ही है। हम प्रति पल यह अनुभव करते हैं कि शरीर तो काबू में रहता है पर मन नहीं रहता। इसलिए शरीर को वश में करके मन को वश में करने की कोशिश करने से हम अपने कर्तव्य का पालन करते हैं।

ब्रह्मचर्य की साधना के लिए जहां आहार व विहार में संयम की आवश्यकता है, वहां तपस्वी को कुछ क्रियात्मक साधन भी अपनाने पड़ते हैं। निम्नलिखित साधन उपयोगी सिद्ध हुए हैं :—

(१) सदैव ब्रह्ममुहूर्त में उठने का अभ्यास करना।

(२) हर ऋतु में प्रातःकाल व सायंकाल ठण्डे जल से स्नान करना।

(३) सदैव कोपीन बांधे रहने का अभ्यास करना।

(४) नित्य प्रति कम से कम एक घण्टा सिद्धासन पर बैठने का अभ्यास करना।

(५) बन्धों में मूलबन्ध, मुद्राओं में विपरीत करणी मुद्रा तथा आसनों में शीर्षासन या सर्वांगासन का अभ्यास नित्य प्रति करना चाहिए।

पांच ज्ञानेन्द्रियां, पांच कर्मेन्द्रियां और मन मिलकर ११ इन्द्रियों का समुदाय है। उन सबका संयम होगा तो जननेन्द्रिय का संयम सुलभ हो जायगा। ब्रह्मचर्य-पालन में स्वादेन्द्रिय संयम से बहुत सहायता मिलती है।

—महात्मा गांधी

नारद-पुराण के आधार पर योग-साधन

श्री हीरालाल शास्त्री फर्रुखाबाद

ज्ञान का उदय होने से अज्ञान नष्ट होता है, तब ज्ञानियोंके हृदय में निरन्तर परमात्मा का प्रकाश होता ही रहता है। ऐसी दशा में माया का प्रवेश ही नहीं होता है। अतः ज्ञानी का मोक्ष अवश्य कहा गया है। इसके लिए योग-साधन अति शीघ्र अज्ञान का नाश करके ज्ञान का प्रकाश कर देता है।

योग—योग के आठ अङ्ग होते हैं—यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान और समाधि अङ्ग कहा गया है।

यम—अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य, अपरिग्रह, अक्रोध, अनसूया यह संक्षेप से यम है।

अहिंसा—किसी भी प्राणी को कभी किसी दशा में भी कष्ट न पहुँचाने का नाम अहिंसा शब्द से कहा गया है।

सत्य—धर्म, अधर्म का विचार रखते हुए जैसी देखी और सुनी हो वैसी ही बात के प्रयोग को सत्य कहते हैं।

अस्तेय—दूसरे के धन या अन्य वस्तु को आँख छिपाकर या बिना माँगे हुए लेना और फिर उस वस्तु में अपनत्व की भावना कर लेना आदि कामों को भूलकर भी न करने का नाम अस्तेय है।

ब्रह्मचर्य—स्मरण, कीर्ति, केलि, प्रेक्षण, गुह्य-भाषण, सङ्कल्प, अध्यवसाय साम्य, क्रिया-निवृत्ति भेद से मैथुन आठ प्रकार का कहा गया है। ये आठों भाव मनुष्य के जब किसी प्राणी में किसी भी समय न हों, वह ब्रह्मचर्य कहा जाता है। अर्थात् सभी प्रकार से मैथुन त्याग ब्रह्मचर्य है।

अपरिग्रह—आपत्तिकाल में भी द्रव्यों का संग्रह न करना अपरिग्रह कहा गया है। यह योग में सिद्धि-प्रद है।

क्रोध—जो अपने उत्कर्ष को बताते हुए किसी के प्रति कठोर वचन बोलता है, उसके उस क्रूरतापूर्ण भाव को धर्मज्ञ पुरुष क्रोध कहते हैं।

अनसूया—धन आदि के द्वारा किसी की बढ़ती देखकर डाह के कारण जो मन में संताप होता है उसे ही असूया कहा गया है और इससे विपरीत आचरण को अनसूया कहते हैं।

नियमों का वर्णन नारद-पुराण में इस प्रकार किया गया है :—

तप, स्वाध्याय, सन्तोष, शौच भगवान् विष्णु की आराधना तथा सन्ध्योपासन आदि नियम कहे गये हैं।

तप—जिसमें चान्द्रायण आदि व्रतों के द्वारा शरीर को कृश किया जाता है वह तप कहलाता है।

स्वाध्याय—ॐकार, उपनिषद्, द्वादशाक्षर मन्त्र अष्टाक्षर मन्त्र, तत्त्वमसि आदि महावाक्यों के समुदाय का जो जप, अध्ययन, एक विचार है उसे स्वाध्याय कहते हैं।

सन्तोष—प्रारब्ध के अनुसार शरीर की रक्षा के लिए भोजन, वस्त्र, स्थान इत्यादि आवश्यक द्रव्यों में बिना कामना किये जो कुछ दैवेच्छा से अनायास प्राप्त हो, उसमें प्रसन्न रहने का नाम सन्तोष है।

शौच—अन्तः, बाह्य शौच इस तरह से दो प्रकार का होता है। अन्तः शौच हृदय की पवित्रता, बाह्य शौच मृत्तिका, गोबर, साबुन आदि से जल द्वारा शरीर की शुद्ध करना। इसी कारण बाहर से हजारों घड़े भी शरीर पर डालने, परन्तु जब तक आभ्यन्तर (अन्तःकरण) में राग द्वेष आदि दोष भरे रहेंगे, तब तक ऐसा ब्राह्मण भी चाण्डालवत् अस्पृश्य है। अतः शुद्धि रहित मनुष्य पूजन, संध्या तीर्थ सेवन दान-पुण्य कुछ भी करे सब व्यर्थ होगा।

भगवान् आराधन—मन, वाणी, क्रिया द्वारा स्तुति, कथा श्रवण, पूजन आदि से भगवान में दृढ़ भक्ति होना ही भगवान की आराधना कही गई है।

सन्ध्योपासन—सभी द्विजभक्ति सन्ध्योपासन से परिचित ही होते है, प्रसिद्ध है।

प्राणायाम—फिर स्वस्तिकादि ३० आसन योग-शास्त्र में बताये गये हैं। उनमें से कोई भी एक आसन इस प्रकार सिद्ध करले कि लगातार बिना हिले डुले यथाशक्ति प्रसन्न करता हुआ उत्तर या पश्चिम की ओर मुख करके ३ या ४ घण्टे तक स्थिर होकर ही प्राणायाम करे। शरीर के भीतर रहने वाले वायु का नाम प्राण है और उसके निग्रह का नाम आयाम है। इसी को प्राणायाम कहते हैं, इसे शनैः-शनैः बढ़ाना चाहिए। प्राण को सहसा बढ़ाने से अनेक रोग हो जाते हैं, अतः धीरे-धीरे अभ्यास करे।

भेद—यह प्राणायाम अगर्भ सगर्भ भेद से दो प्रकार का कहा गया है। जप, ध्यान, मन्त्र के बिना अगर्भ प्राणायाम होता है और जप, ध्यान, मन्त्र सहित सगर्भ होता है।

अन्य भेद—इसी प्राणायाम के पूरक, कुम्भक, रेचक, शून्यक, इस प्रकार चार भेद होते हैं।

पिंगला—जीव की दाहिनी नाड़ीका नाम पिंगला है। उसके देवता सूर्य है, पितृयोनि भी कहते हैं।

इड़ा—बायीं नाड़ी का नाम इड़ा है, इसका

देवता चन्द्रमा है इसको देवयोनि भी कहते हैं।

सुषुम्ना—इन दोनों के मध्य भाग में सुषुम्ना नाड़ी है। यह अत्यन्त सूक्ष्म और परमब्रह्म है। ब्रह्मा भी इसके देवता हैं।

विधान—प्राणायाम के विधान में पहले दाहिने छिद्र से वायु को धीरे-धीरे भरे, यही पूरक कहा जाता है। उसके बाद वायु को भीतर ही रोके रहे, बाहर न निकले, यह कुम्भक कहा जाता है। फिर बाम छिद्र से धीरे-धीरे निकाले इसी को रेचक प्राणायाम कहते हैं।

कुम्भक—इस प्राणायाम में बाहर की वायु बाहर रहे और भीतर की वायु भीतर ही रहे न पूरक करे और न रेचक, शान्त स्थिर रहे। इस प्राणायाम को कुम्भक कहते हैं।

इस प्रकार यम, नियम, आसन, प्राणायाम के एक-एक को पूर्णतया सिद्ध करके अन्य साधन आगे करे।

प्रत्याहार—जो विषयों में फँसी इन्द्रियों को विषयों से सर्वथा हटाकर अपने भीतर ही रोके रहे, इस प्रयत्न का नाम ही प्रत्याहार है। जिस साधक ने प्रत्याहार द्वारा ही अपनी इन्द्रियों को जीत लिया है, वे महात्मा पुरुष ध्यान न करने पर भी पुनरावृत्ति रहित परब्रह्म पद को प्राप्त होते हैं और जो इन्द्रियों को बिना वश में किये ही ध्यान में तत्पर होता है वह मूर्ख ही है, क्योंकि उसका ध्यान सिद्ध नहीं हो सकता है।

धारणा—साधक जिस-जिस वस्तु को देखे उसे-उसे अपने आत्मा में आत्म-स्वरूप ही समझे और प्रत्याहार द्वारा वश में की हुई इन्द्रियों को अपने आत्मा में ही अन्तर्मुख करके धारण करे। इस प्रकार इन्द्रियों को जो आत्मा में धारण करना है उसे धारणा कहते हैं।

ध्यान—प्रत्याहार से इन्द्रियों को जीतकर अच्युत भगवान जो सभी को धारण किये हैं उनका ध्यान हृदय-कमल में करे। उनका ध्यान दो प्रकार का बताया है—एक पीताम्बरधारी सर्व भूषण, गन्ध माल्ययुक्त का ध्यान करे। ध्येय वस्तु में चित्तवृत्ति का एकाकार हो जाना ही साधु पुरुषों द्वारा ध्यान बतलाया गया है।

समाधि—इस प्रकार ध्यान का अभ्यास करते हुए साधक परमानन्द से पूर्ण होकर वायु शून्य स्थान में स्थित दीपककी भाँति अविचल भाव से ध्येयाकार स्थिति हो जाने को समाधि कहते हैं।

दूसरा ध्यान—ॐ को अकार, उकार, मकार उनके क्रमशः ब्रह्मा, विष्णु, महेश देवता हैं। इनका समुच्चय ॐ है, इस प्रकार का ध्यान करें।

श्री प्रभुरामलालाष्टकम् :

पं० श्री हरप्रसाद शास्त्री, वीरसिंह इण्टर कालेज टूण्डला

गत्वा हिमालयगिरिं निलयं सुराणां,
तप्त्वा तपश्च विपुलं सुचिरं तथैव ।
यः प्राप्तवान् शुभयशो विविधाश्च सिद्धीः
श्री रामलाल प्रभुवर्यमहं प्रपद्ये ॥

लब्ध्वा तथा विविधयोगिजनेषु ख्यातिम्,
सन्तोष्य सिद्धिपुरुषांश्च शिवादिदेवान् ।
यः स्वानुभाव विदिताखिलशास्त्रसारः,
श्री रामलाल प्रभुवर्यमहं प्रपद्ये ॥

योऽसौ विहाय गिरिराजमुपागतोऽत्र,
लोके सुपीडितजनोद्धरणाय सम्यक् ।
पूर्णांकृपां विहितवांश्च हि रामरत्याम्
श्री रामलाल प्रभुवर्यमहं प्रपद्ये ॥

वासं चकार चिरमेत्य सैंवाई ग्रामं,
योऽसौविधाय च गुहां जसति प्रसिद्धाम् ।
शिक्षां ददावपि सुयोगविधेः जनेभ्यः,
श्री रामलाल प्रभुवर्यमहं प्रपद्ये ॥

तत्रा सद्भिग्युभिर्दुष्टं जनैश्च ग्राम्यैः,
खिन्नश्चगन्तुमैच्छत् सकलं विहाय ।
नासीद् विवेकरहितोऽस्य रतिश्च ग्रामे,
श्री रामलाल प्रभुवर्यमहं प्रपद्ये ॥

भक्तैश्च ग्राम्यपुरुषैःरुद्धो गुहायां,
शुभ्रेण दिव्यवपुषा च विराजमानः ।

आकाशमार्गमधिकृत्य जगाम शीघ्रं,
श्री रामलाल प्रभुवर्यमहं प्रपद्ये ॥

मुख्याग्र्यशिष्यवरेण विलोकितोऽपि,
नेपालदेशमगमत् स हि योगिराजः ।
नीतस्तो गुरुवरेण सदाशिवेन,
श्री रामलाल प्रभुवर्यमहं प्रपद्ये ॥

कृत्वा जनान् हि सकलान् सुखिनः स्वयोगात्
श्री चन्द्रमोहन गुरौ च प्रपात्य शक्तिम् ।
भूत्वा शिवस्य यः शैलगिरौ विराजते,
श्री रामलाल प्रभुवर्यमहं प्रपद्ये ॥

अष्टकं रामलालस्य प्रभुवर्यस्य योगिनाम्
कृतं हरप्रसादेन पठितव्यं समाहितैः ।
यो वै प्रातः समुत्थाय प्रपठेदष्टकं सदा,
तस्य नश्यन्ति पापानि शिवलोकं च गच्छति ॥

दीपका-सन्देश

पं० श्री जगदीशशरण 'मधुर' दतिया, (म० प्र०)

ओ मनुज ! मिट्टी के पुतले,
मैं भी मिट्टी का दिया।
साथ जीवन के, थपेड़ों--
का गहन अनुभव किया।
तेल, बाती ने घुले,
स्नेह इतना दे दिया।

जिसके बल, मैंने जगत का,
सारा तम, विष सा पिया।
आप भी, प्रभु-ज्योति-घन की,
ज्योतिमय शाश्वत किरण हो।
दीन, दुखियों के दुःखों का,
आप द्वारा ही हरण हो। ★

सत्यं·शिवं·सुन्दरम्

❀ मांगे मिले न भीख ❀

जैन पुराणों में एक उपाख्यान है कि एक ऋद्धिधारी मुनि जहां आहार करते थे वहां रत्नों की वर्षा होने लगती थी।

× × ×

जब एक स्वार्थी और लालची बुढ़िया ने यह समाचार सुना तो वह ऐसे अवसर की प्रतीक्षा करने लगी, जब वह मुनिराज उसके नगर में पधार कर उसका आहार ग्रहण कर सकें।

× × ×

कालान्तर में एक दिन वह भी आया जब वह ऋद्धिधारी मुनि-महाराज घूमते-घूमते उस नगर में आ निकले जिसमें वह बुढ़िया रहती थी।

× × ×

बुढ़िया ने बड़े ही अनुनय विनयके साथ मुनिराज को इस बात पर राजी कर लिया कि वह एक समय उसके घर पधार कर उसका बनाया हुआ आहार ग्रहण लें।

× × ×

बुढ़िया ने यों अपने निमन्त्रण पर जब मुनिराज की स्वीकृति प्राप्त करली तब वह प्रसन्नतापूर्वक अपने घर वापिस आई और महाराज के लिए मेवा-मखाने मिश्रित बहुत बढ़िया खीर बना डाली।

× × ×

जब खीर तैयार हो गई तो वह मुनिराज को बुला लाई। मुनि महाराज का यह स्वाभाविक धर्मानुकूल नियम था कि वे अपना आहार खड़े होकर बिना किसी पात्र के हाथों में लेकर खाते थे।

× × ×

जब बुढ़िया के घर वे पहुंचे तो आहार की प्रतीक्षा में एक स्थान पर खड़े हो गये। बुढ़िया को अपने घर में जल्दी-जल्दी रत्नों की वर्षा हो जाने की चाहना और लालसा थी, इसलिए खीर के ठण्डी होने की प्रतीक्षा किये बिना चम्मच से गर्म-गर्म खीर ही उनके हाथ पर टपका दी जिससे मुनिराज का हाथ जल गया। किन्तु अपनी सहनशीलता के कारण उन्होंने अपनी इस वेदना को चुपचाप सह लिया।

बुढ़िया को मुनिराज की इस पीड़ा का कुछ भी आभास नहीं हुआ। रत्नों की लालसा में मुनिराज के हाथ पर गर्म-गर्म तेल डाल देने के बाद आसमान की ओर मुँह करके रत्नों की वर्षा की बाट जोहने लगी।

× × ×

इसी बीच में मुनिराज बुढ़िया की स्वार्थमयी वृत्ति देखकर चुपचाप चले गये। लालची बुढ़िया आसमान की ओर देखने में इतनी तल्लीन थी कि मुनिराज के यों चुपचाप चले जाने का उसे कुछ पता भी नहीं चला।

× × ×

बड़ी देर टकटकी लगाने के बाद जब उसके घरमें रत्नों का एक कण भी नहीं गिरा तब उसने नजर घुमाकर देखा तो मुनिराज वहाँ उसे नहीं मिले, लेकिन जिस दीवाल के सहारे मुनिराज खड़े थे उस पर बड़े-बड़े मोटे अक्षरों में लिखा हुआ था—

बिन मांगे मोती मिलें, मांगे मिले न भीख।

यज्ञ के दो स्वरूप

हवन यज्ञके दो पक्ष हैं—देवयजन और आत्मयजन। इन दोनोंमें क्या संगति बैठती है, इस पर थोड़ा-सा विवेचन करना है। छान्दोग्योपनिषद् में लिखा है कि 'हमारा भोजन इतना शुद्ध हो कि उसके ग्रहण करने पर हमारे अन्तःकरण में पवित्रताकी अनुभूति हो, धर्म सत्य में निष्ठावान् होने की प्रवृत्ति हो और इस प्रकार सकल कुटिलतायें अर्थात् असत्य, झूठादि का संहार हो। अन्न शुद्धि के लिये भगवद्गीता में यह कहा गया है कि हवन यज्ञ से बादल शुद्ध होंगे, वर्षा जल की शुद्धि से अन्न शुद्ध होगा और इस प्रकार के अन्न के सेवन से अन्तःकरण की शुद्धि में पर्याप्त सहायता मिलेगी। उपर्युक्त दोनों आर्ष वाक्यों का अभिप्रेत तात्पर्य यह है कि शुद्ध अन्न-जल से भी मनुष्य जब दुःख निवृत्ति और सुख प्राप्ति के लिए मन्त्रोच्चारणपूर्वक हवन करेगा, तभी अभीष्ट सिद्धि में समर्थ होगा। अतएव यह शास्त्रीय निष्कर्ष माननीय है कि स्थूल भौतिक आहुतियों का अन्तःकरण द्वारा चाही हुई मानस्य कामनाओं के साथ दृढ़ और अकाट्य सम्बन्ध है। यही तथ्य मनुस्मृति में पाया जाता है कि अग्नि में डाली हुई आहुति सूर्य तक जाती है, सूर्य द्वारा वृष्टि होती है, वृष्टि से अन्न और उससे प्रजाका शुद्ध पोषण तथा संस्कार बनता है। एक कड़ी हिदायत भी साथही पाई जाती है कि जो अग्निहोत्र के रहस्य को बिना समझे बूझे हवन करता है, वह राख में आहुतियाँ डालता है।

हवन और आत्मोन्नति सम्बन्धी उपदेश छान्दोग्योपनिषद् में पृथक् पृथक् मिलता है, परन्तु शतपथ ब्राह्मण में इन दोनोंका सुन्दर समन्वय कर दिया है कि 'हवनकर्त्ता' अपने को आत्मोन्नति करने वाला कहे अर्थात् समझे, क्योंकि हवन से उसका शरीर सुसंस्कृत होगा और वह अपने को परमात्मा की समीपता अनुभव करने में सक्षम होगा और सर्प के केंचुली छोड़ने की तरह वह पुनः शरीर धारण करने से मुक्त हो जायगा। —वेदवाणी

शिव-महिमा

पं० श्री गिरधर शर्मा चतुर्वेदी, वाचस्पति

शंकर की गौ अर्द्धाङ्गिनी भगवती पार्वती जिस समय अद्भुत तपस्या में निरत थीं और उनके प्रेम की परीक्षा के लिए स्वयं भगवान् शंकर ने ब्रह्मचारी का वेष बनाकर उनके सामने उनकी ही भरपेट निन्दा की थी : 'शंकर इतना दरिद्र है कि उसे वस्त्र तक पहनने को नहीं मिलता, इसी से 'दिगम्बर' कहलाता है। वह श्मशानवासी है, उसका रूप ही भयङ्कर है' इत्यादि अनेकों दोष जब अपने-आप में बताये थे, उस समय पार्वती का उत्तर महाकवि कालिदास के शब्दों में इस प्रकार अङ्कित हुआ है –

> अकिञ्चनः सन् प्रभवः स सम्पदां,
> त्रिलोकनाथः पितृसद्मगोचरः।
> स भीमरूपः शिव इत्युदीर्यते,
> न सन्ति याथार्थ्यविदः पिनाकिनः॥

अर्थात् शिव परम दरिद्र होकर भी सब सम्पत्तियों के उद्गमस्थान हैं, सब सम्पत्तियाँ वहीं से प्रकट होती हैं, वे श्मशानवासी होकर भी तीनों लोकों के नाथ हैं, भयानक रूप में रहने पर भी उनका नाम 'शिव' है। सत्य तो यह है कि पिनाकधारी भोलानाथ का यथार्थ तत्त्व कोई आज ही नहीं पाया, वे क्या हैं और कैसे हैं ? यह तत्त्व कोई नहीं जानता। यह भगवान् शंकर की अत्यन्त अन्तरंग, परमशक्ति भगवती पार्वती की राय है। इसी प्रकार बाल-ब्रह्मचारी परमतत्त्वज्ञ भीष्मपितामह से नीति, धर्म और मोक्ष के सूक्ष्म से सूक्ष्म रहस्य का विवेचन सुनते हुए महाराज युधिष्ठिर ने जब शिव-महिमा के सम्बन्ध में प्रश्न किया, तब वृद्ध पितामह ने भी यही उत्तर दिया था—

> अशक्तोऽहं गुणान् वक्तुं
> महादेवस्य धीमतः।
> यो हि सर्वगतो देवो,
> न च सर्वत्र दृश्यते॥

(महा० अनु० १४/३)

'जो सबमें रहते हुए भी कहीं किसी को दिखाई नहीं देते, उन महादेव के गुणों का वर्णन करने में मैं सर्वथा असमर्थ हूँ।' 'मैं असमर्थ हूँ' इतना ही कहकर भीष्मपितामह को सन्तोष नहीं हुआ, किन्तु साथ ही उन्होंने यह भी स्पष्ट कह दिया कि मनुष्य देह-धारी कोई भी महादेवकी महिमा नहीं कह सकता–

> को हि शक्तो गुणान्
> वक्तुं देवदेवस्य धीमतः,

गर्भजन्मजरायुक्तो,
मर्त्यो मृत्युसमन्वितः ॥

आगे भीष्मपितामह ने युधिष्ठिर को निराश होते देख धैर्य दिलाया कि 'इस सभा में साक्षात् विष्णु के अवतार भगवान् श्रीकृष्ण उपस्थित हैं, वे शिव की महिमा कह सकते हैं।' साथ ही स्वयं भगवान श्रीकृष्णसे प्रार्थना की कि—'आप युधिष्ठिर को और सब ऋषि-मुनि आदि को शिव-महिमा सुनावें।' भगवान श्रीकृष्ण ने भी यहीं से प्रारम्भ किया कि 'हिरण्यगर्भ, इन्द्र, महर्षि आदि भी शिव-तत्त्व जानने में असमर्थ हैं, मैं उनके कुछ गुणों का व्याख्यान करता हूँ।' ऐसी स्थिति में एक क्षुद्रातिक्षुद्र नर-कीट का शिव-महिमा की व्याख्याके लिए मुँह खोलना या लेखनी उठाना सर्वथा दुस्साहस एवं अनधिकार चेष्टा ही कही जा सकती है। किन्तु इसका उत्तर श्रीपुष्पदन्ताचार्य ने अपने सुप्रसिद्ध 'महिम्नः स्तोत्र' के आरम्भ में ही दे दिया है—

महिम्नः पारं ते,
परमविदुषो यद्यसदृशी।
स्तुतिर्ब्रह्मादीनामपि,
तदवसन्नास्त्वयि गिरः॥
अथवाच्यः सर्वः स्वमति-
परिणामावधि गृणन्।
ममाप्येष स्तोत्रे हर,
निरपवादः परिकरः॥

यदि आपकी महिमा को पूर्णरूप से बिना जाने स्तुति करना अनुचित हो तो ब्रह्मादि की भी वाणी रुक जायगी। कोई भी स्तुति नहीं कर सकेगा, क्योंकि आपकी महिमा का अन्त कोई जान ही नहीं सकता। अनन्त का अन्त कैसे जाना जाय। तब अपनी-अपनी बुद्धि के अनुसार जिसने जितना समझ पाया है, उतना कह देनेका उसका अधिकार दूषित न ठहराया जाय, तो मुझ-जैसा तुच्छ पुरुष भी स्तुति के लिए कमर क्यों न कसे। कुछ तो हम भी जानते ही हैं, जितना जानते हैं उतना क्यों न कहें? आकाश अनन्त है—सृष्टि में कोई भी पक्षी ऐसा नहीं, जो आकाश का अन्त पा ले, किन्तु वे उड़ना नहीं छोड़ते, प्रत्युत जिसके पङ्खों में जितनी शक्ति है, उतनी उड़ान वह आकाशमें भरता है। हंस अपनी शक्तिके अनुसार उड़ता है और कौआ अपनी शक्ति के अनुसार। यदि न उड़ें तो उनका पक्षि-जीवन व्यर्थ ही हो जाय, फिर उन्हें पक्षी कहे ही कौन। इसी प्रकार अपनी-अपनी बुद्धिके अनुसार अनन्त शिव-तत्त्व में जितना समझ सकें, उतना समझना और जितना समझा है, उसके मनन के लिए परस्पर कहना और सुनना मनुष्य-जीवन की सफलता के लिए सबका आवश्यक कर्त्तव्य है। बस, इसी कर्त्तव्य की आंशिक पूर्ति के लिए यह छोटा-सा लेख भी पाठकों की सेवा में समर्पित है।

चूडाला-चरित्र

ब्रह्मचारी श्री दासलाल

द्वापर युग में कुरु वंश में उत्पन्न शिखिध्वज नामक राजा हुआ। बाल्यकाल से ही वह दया, धर्म, ऐश्वर्य तथा वैराग्य आदि गुणों से युक्त था। समय आने पर उनका विवाह सौराष्ट्र देश की कन्या चूडाला से हुआ। तत्पश्चात् सांसारिक विषय-भोगों में रत रहते हुए उनके दिन व्यतीत होने लगे। परन्तु शीघ्र ही चूडाला की आत्म तत्त्व की जिज्ञासा बढ़ती गई। शनैः-शनैः चूडाला ने अपने दृढ़ योगाभ्यास द्वारा परमात्मा के स्वरूप का साक्षात्कार कर लिया।

एक समय की बात है कि नित्य-तृप्त और इच्छा-रहित चूडाला को लीलावश आकाश में गमनागमन की इच्छा हुई। तब वह इसकी सिद्धि के लिए राज्य के सम्पूर्ण सुखों को त्याग कर निर्जन स्थान में जाकर ऊर्ध्वगामी प्राणवायु का निरोध करने का अभ्यास करने लगी। इस प्रकार निरन्तर योगाभ्यास करने वाली वह रानी अणिमा, गरिमा आदि अष्ट-सिद्धियों से सम्पन्न हो गई। मोह आदि दोषों तथा तीन-तापों का उपशम हो जाने से उनका हृदय गंगाजल की भाँति निर्मल एवं शीतल हो गया। कभी आकाश-गमन करती थी, कभी समुद्र के भीतर द्वीपों में पहुँच जाती थी। इस प्रकार चूडाला आकाश-गामिनी होकर स्वेच्छानुसार यत्र-तत्र विचरण करती थी। मोतियों में प्रविष्ट हुए धागे की भाँति काष्ठ, तृण, पत्थर, भूत, आकाश, वायु, अग्नि, जल आदि पदार्थों में निर्विघ्नतापूर्वक प्रवेश कर जाती थी। इस प्रकार वह लोक-लोकान्तरों में प्रवेश करने वाली हो गई। चूडाला ने अपने स्वामी शिखिध्वज को ज्ञाना-मृत का उपदेश करने का प्रयास किया, परन्तु उनकी समझ में नहीं आया। चूडाला ने अन-धिकारी समझकर उनके सामने अपनी अणिमा आदि सिद्धियों को उसी प्रकार प्रकट नहीं किया जैसे शूद्र को यज्ञ-क्रिया नहीं दिखायी जाती, परन्तु अचानक ही संस्कारवश उन्हें अपना राज्य विष-सा प्रतीत होने लगा। अब उन्हें संसार से वैराग्य उत्पन्न हो गया, उन्होंने अपनी पत्नी चूडाला से वन-गमन की आज्ञा माँगी, परन्तु चूडाला ने कहा—इस आयु में तुम्हारा वन जाना उपयुक्त नहीं, अभी इस आयु तुम्हें भली-भाँति प्रजा-पालन करना चाहिए, परन्तु राजा ने उसकी बात न मानी।

एक दिन रात्रि को सब कुछ छोड़कर वनों में चल दिये, जंगल में पहुँच कर वे एक पर्ण-कुटी बनाकर रहने लगे। उधर चूडाला को भी अपने स्वामी के प्रस्थान का पता चल गया। उन्होंने अपने योग-बल से देख कर यही

निश्चित विधान जानकर राज्य का कार्य भार सम्भाल लिया। कुछ समय पश्चात् चूड़ाला को अपने पति की दशा जानने की इच्छा हुई। यह सोचकर चूड़ाला आकाश-मार्ग से उड़ती हुई पर्वतों, मेघों तथा दिग-दिगन्तों को लांघ कर मन्दराचल में अपने पति के पास पहुंच गई। उसने देखा कि वह कृशकाय कृष्ण वर्ण तथा उसका शरीर जीर्ण-शीर्ण पत्ते की तरह हो गया। वह भूमि पर बैठकर पुष्पों की माला गूँथ रहे थे। चूड़ाला अपने स्वामी की इस करुण दशा को देखकर सोचने लगी—इनकी दशा शोचनीय हो गई है, इसलिए चूड़ाला ने अपने रूप का परित्याग करके तपस्वी का वेष धारण कर लिया।

उस समय उसका शरीर तपे हुए स्वर्ण के समान गौर वर्ण तथा ब्रह्म ज्ञान के तेज से देदीप्यमान था। उस तेजोमय देवपुत्र को देख कर शिखिध्वज सोचने लगे, यह कोई देवपुत्र आया है, अतः वे तुरन्त खड़े हो गये और बोले, देवपुत्र ! आपको प्रणाम है। तब ब्राह्मण कुमार ने भी कहा, राजर्षे ! तुम्हें नमस्कार है। तब शिखिध्वज ने देवपुत्र (चूड़ाला) को शास्त्रविधि के अनुसार अर्घ्य, पाद्य, पुष्प और माला आदि समर्पित किये। पश्चात् ब्राह्मण वेष में चूड़ाला बोली। आपने शान्त मन से निर्वाण प्राप्ति के लिए फल की कामना से रहित उत्कृष्ट तप का अभ्यास तो कर लिया है न ? यह सुनकर राजा बोले, भगवन् ! आप तो सर्वज्ञ है, परन्तु यह बताइये कि आप कौन है ? किसके पुत्र है ? मुझ पर अनुग्रह करने के लिए कहांसे पधारे है। ब्राह्मणकुमार (चूड़ाला) बोले। देवर्षि नारद-पुत्र हूँ तथा ब्रह्मलोक ही मेरा घर है ! तब देवपुत्र पूछने लगे, अब आप बताओ, आप कौन हैं तथा आप कौनसा कार्य सिद्ध करना चाहते है ? शिखिध्वज बोले, मैं शिखिध्वज नाम का राजा हूं। अपने सम्पूर्ण राज्य का त्याग करके इस वन में परमानन्द प्राप्ति हेतु निवास कर रहा हूं, परन्तु मुझे अब तक आत्म-शान्ति नहीं हुई है। देवपुत्र बोले, किसी समय मैंने अपने पितामह ब्रह्मा से ऐसा प्रश्न किया था प्रभो ! ज्ञान और कर्म में कौन श्रेयस्कर है ? तब ब्रह्मा जी बोले, बेटा ! ज्ञान और कर्म में ज्ञान ही परम श्रेयस्कर है, क्योंकि उससे भलीभांति कैवल्य स्वरूप परमात्मा का साक्षात् अनुभव होता है, परन्तु जिन्हें ज्ञान दृष्टि की प्राप्ति नहीं हुई, उन्हें कर्म ही करना चाहिए, क्योंकि जिसके पास रेशमी थान नहीं है क्या साधारण कम्बल को भी छोड़ देता है ?

देवपुत्र फिर बोले, राजर्षे ! इस प्रकार जब ब्रह्मा आदि उस परम ज्ञान को श्रेष्ठ बतलाते है तो आप उस ज्ञान से रहित क्यों है ? आप व्यर्थ में पर्वत की कन्दरा में जीवन बिता रहे है। ज्ञान तो ब्रह्मवेत्ता महात्माओं के पूछने से उनकी सेवासे तथा उनके सत्संगसे

प्राप्त होता है। शिखिध्वज ने कहा, देवकुमार ! बहुत काल के पश्चात् आपने मुझे प्रबुद्ध कर दिया है। मैंने इतने समय तक इस वन में व्यर्थ जीवन व्यतीत किया। अब आप ही मेरे गुरु हैं, मेरे माता-पिता एवं सर्वस्व हैं। मैं आपका शिष्य हूँ, इसलिए जिसे जान लेने पर फिर शोक-मोह नहीं होता, उस पर ब्रह्मतत्व का उपदेश कराइये। तब देवपुत्र ने उसे अज्ञान, वैराग्य एवं विवेक का तत्व समझाया। उस अज्ञान को ज्ञान तथा त्याग रूपी खड्ग से नष्ट करने का उपदेश किया। देव की बातें सुनकर राजा ने अपनी सारी उपयोगी वस्तुओं को अग्नि में डालना शुरू कर दिया। तदनन्तर देह-त्याग के लिए उद्यत होने पर देवपुत्र द्वारा चित्त त्याग का उपदेश दिया गया। राजा बोले, भगवन् ! मैंने राज्य छोड़ा, घर छोड़ा, पत्नी छोड़ी, फिर भी आप कहते हैं कि सर्वत्याग क्यों नहीं किया। देवपुत्र बोले, राजन् ! धन, स्त्री, गृह, राज्य, भूमि छत्र और बान्धु-बान्धव ये सब तो आपके हैं नहीं, फिर आपका सर्व त्याग कैसे हुआ? आपका जो सबसे उत्तम भाग है उसका परित्याग तो हुआ नहीं उसका पूर्णरूपेण त्याग करने पर ही आप सर्व त्यागी और शोक रहित हो जायेंगे। राजा बोला, यदि राज्यादि मेरे नहीं हैं तो पर्वत, वृक्ष, लता आदि से परिपूर्ण यह वन तो मेरा है, मैं इसी का परित्याग कर रहा हूँ। देवपुत्र बोला, राजन् ! यह पर्वत तट, वन, गर्त, वृक्ष और वृक्षों के नीचे का भाग ये सब भी आपके नहीं, फिर आपका सर्व त्याग कैसे हुआ ? राजा बोले, यदि ये सारी वस्तुएँ मेरी नहीं हैं तो यह पात्र, मृग चर्म, दीवाल तथा कुटीर आदि ही मेरे सर्वस्व हैं, मैं उन्हीं का त्याग कर रहा हूँ। ऐसा कहकर राजर्षि ने अपनी सारी उपयोगी वस्तुयें मृग-चर्मादि का संग्रह करके एक स्थान पर एकत्र कर दीं तथा आग लगा दी।

तदनन्तर उसने अपनी कुटिया भी जला दी। उन्होंने अपनी लंगोटी, भोजन पात्र तथा भोजन आदि तक को भी फूंक दिया। तब राजा बोले—देवपुत्र ! मैं अपना सर्वस्व त्याग करके परम सुखी हो रहा हूँ, मैं बन्धनमुक्त हो गया हूँ। अब दिशायें ही मेरे घर तथा वस्त्र हैं। देवपुत्र बोले, आपने तो अभी सभी वस्तुओं का त्याग नहीं किया। तब राजा बोले, अब तो सर्व त्याग के लिए रक्त-मांसमय शरीर ही अवशेष है, अतः इसी को गड्ढे में गिरा कर विनष्ट कर दूँगा। देवपुत्र बोले, आप इस निरपराध शरीर को क्यों महान् गर्त में गिराना चाहते हैं ? इसने आपका क्या अपराध किया है। आप इसका त्याग मत कीजिये। देह त्याग देने पर आपका सर्वत्याग सिद्ध नहीं होगा। राजा बोले, तो फिर किस वस्तु के त्याग से सर्व त्याग सम्पन्न होगा। देवकुमार बोले—नरेश ! आप चित्त को ही भ्रम, चित्त को ही पापात्मा पुरुष तथा जग-जाल समझिये। राजन् ! जैसे वृक्ष का बीज

वृक्ष ही होता है, उसी तरह मन ही राज्य, देश, आश्रम आदि समस्त वस्तुओं का बीज है। अतः सबके बीज भूत उस मन का परित्याग होने पर सर्व त्याग स्वतः ही सिद्ध है। राजन्! चित्त ही अपने संकल्प द्वारा जगत तथा देहादि विविध आकार धारण करके सब में व्याप्त हो रहा है। इस प्रकार चित्त का अभाव हो जाने पर द्वैत आदि सभी भावनाओं का विनाश हो जाता है। देवपुत्र के यों कहने पर राजा बोले, आप मुझे चित्त का स्वरूप तथा इसके परित्याग की विधि बतलाइये। देवपुत्र बोले, वासना ही चित्त का स्वरूप है। राजा बोले—भगवन्! चित्त का स्वरूप वासनामय है यह तो जान गया, परन्तु इसका परित्याग अति दुष्कर मानता हूँ। देवपुत्र बोले—राजन्! इस चित्त का सर्वथा नाश ही इस संसार का नाश है। यही चित्त का सर्वथा त्याग है। राजा शिखिध्वज बोले, परब्रह्म परमात्मा की प्राप्ति रूप सिद्धि के लिए मैं चित्त त्याग की अपेक्षा तो चित्त का विनाश ही विशेष अच्छा समझता हूँ, परन्तु इस चित्त का अभाव कैसे होता है? देवपुत्र बोले, राजन्! शाखा, फल और पल्लवों से युक्त चित्तरूप वृक्ष का अहङ्कार ही बीज है, अतः आप इस वृक्ष को मूल सहित उखाड़ फेंकिये। राजा बोले, चित्त का मूल क्या है? अंकुर क्या है तथा इसका कौनसा खेत है? इसकी शाखायें तथा स्कन्ध कौन-कौनसी हैं? तथा इसे मूल सहित कैसे फेंका जाता है? राजर्षे! यह अहङ्कार ही इस चित्तरूपी वृक्ष का बीज (मूल) है। परमात्मा की माया ही इस मायामय संसार का खेत है। इस प्रथम उत्पन्न मूल से अनात्म देह में आत्म-विषयक बुद्धि ही इसका अंकुर है, जो निराकार निश्चयात्मक समझ है यह बुद्धि है तथा बुद्धि नामक अंकुर से जो सङ्कल्प-स्वरूप स्थूलता उत्पन्न होती है उसका चित्त और मन ही नाम पड़ा। ये इन्द्रियाँ ही इस चित्तरूपी वृक्ष की दूर तक फैली हुई शाखायें हैं। इस प्रकार के इस कठिन चित्तरूपी वृक्ष की शाखाओं का (विषय-वासनाओं में आसक्ति का) वैराग्य से प्रतिक्षण छेदन करके अहङ्कार रूप मूल को उखाड़ फेंक देने वाले परमात्मा का चिन्तन कीजिये। शिखिध्वज ने कहा—चित्तरूपी वृक्ष की शाखा आदि का छेदन करके उसको मूल सहित कैसे उखाड़ फेंकें? देवकुमार बोले, राजन्! फल और स्पन्दन आदि से युक्त विविध वासनायें चित्तरूपी वृक्ष की शाखायें हैं। तीव्र विवेक वैराग्य के द्वारा वे वासना रूपी शाखायें नष्ट हो जाती हैं, क्योंकि जिसका मन किसी विषय में आसक्त नहीं है तथा जो मौनी एवं तर्क-वितर्क से शून्य है, उस पुरुष का चित्त नष्ट हो जाता है। जो पुरुष अपने पुरुषार्थ से चित्त रूपी वृक्ष की शाखाओं को काटता रहता है, वह मूलका भी उच्छेद करने में समर्थ होता है। चित्त वृत्ति की शाखाओं का छेदन तो गौण है

और मूल का छेदन प्रधान है इसलिए आप अहङ्कार का मूल का उच्छेद करने में तत्पर हो जाइये। देवपुत्र के इस प्रकार कहने पर राजा हाथ में फूल लेकर उसे प्रणाम करने के लिए आ ही रहे थे कि वे अन्तर्धान हो गये। तब राजा आश्चर्य से घटना का विचार करते हुए चित्र-लिखित से अवाक् रह गये। तदनन्तर राजा विवेक वैराग्य के प्रबुद्ध हो जाने पर वासना शून्य अन्तःकरण होकर बैठ गये। इस प्रकार इधर राजा तो निर्विकल्प समाधि में स्थित होने के कारण काष्ठ तथा दीवाल की भांति निश्चेष्ट हो गये, उधर चूडाला देवपुत्र वेष से स्वामी को प्रबुद्ध करके स्वयं अन्तर्हित हो गई तथा देवपुत्र का शरीर त्याग करके अपने वास्तविक स्वरूप को धारण कर लिया। उसने स्वामी को उठाने के लिए अनेक प्रयास किये, पर वह उठे नहीं। तब चूडाला अपने इन्द्रियों सहित शरीर को वहीं छोड़कर स्वामी के अन्तःकरण में प्रविष्ट हो गई तथा वहां पहुँचकर स्वामी की चेतना को स्पन्दित कर दिया। राजा चेतनायुक्त हो गये तथा उन्होंने अपने सामने देवपुत्र को देखा, देख कर राजा अत्यन्त प्रसन्न हुए। तत्पश्चात् देवपुत्र (चूडाला) ने दुर्वासा के द्वारा शाप दिये जाने पर दिन में पुरुष तथा रात्रि में स्त्री रूप में होने की घटना राजा को बताई तथा उन्होंने स्त्री धर्म की रक्षा के लिए राजा से विवाह करने की इच्छा प्रकट की तथा राजा भी सहमत हो गया। इस प्रकार वह दोनों दिन में मित्र रूप में तथा रात्रि में पति-पत्नी के रूप में रहने लगे।

कुछ मास बाद देवपुत्र का रूप धारण करने वाली चूडाला ने विचार किया कि मैं राजा की उत्तम-उत्तम भोगों द्वारा परीक्षा लूं। ऐसा सोचकर चूडाला ने अपने योग-बल से देवताओं तथा अप्सराओं सहित इन्द्र को दिखाया। तब राजा ने इन्द्र का यथोचित सत्कार किया तथा आने का कारण पूछा। इन्द्र बोले, राजन्! आपके गुणविस्तार रूपी सूत्र ने हमारे हृदय को बांध रखा है जिससे हम आकाश से खिंचकर चले आ रहे हैं। महाशय अब उठिये और स्वर्ग चलिये, वहां देवगण और देवाङ्गनायें आपके गुणों को सुन कर विस्मय विमुग्ध हो रहे हैं तथा आपके शुभागमन की प्रतीक्षा कर रहे हैं, इसी कारण से मैं यहां आया हूँ। स्वामी! आपके समान जो महात्मा हैं वह प्राप्त हुए सभी का न कभी तिरस्कार करते हैं और न ही अप्राप्य की कामना। भगवन्! इसलिए आप वहां पहुँचकर सुखपूर्वक विहार करें। तत्पश्चात् राजा बोले, देवेन्द्र! मैं परमात्मा को ही स्वर्ग मानता हूँ उसकी सत्ता सदा व्यापक है, मैं सभी जगह सन्तुष्ट रहता हूँ, मेरे लिए तो हर स्थान स्वर्ग से बढ़कर है। राजा के इन्कार कर देने पर इन्द्र देवगणों सहित अन्तर्ध्यान हो

गये। इन्द्र की माया का उपसंहार करके चूडाला मन ही मन सोचने लगी कि इन्द्र के आने पर भी राजा निर्विकार शान्त रहे, अतः अब मैं पुनः ऐसे प्रपञ्च माया की रचना करूँगी जिसमें राग-द्वेष की प्रधानता रहेगी। तथा जो बुद्धि का अपहरण करने वाला होगा। ऐसा निश्चय करके उसने रात्रि में चन्द्रोदय के पश्चात् सुन्दरी मदनिका का रूप धारण कर लिया तथा अपने संकल्प से जार-पुरुष के साथ रमण करने लगी। राजा ने उन दोनों को देखा, परन्तु राजा के मन में किसी प्रकार का क्रोध विकार नहीं आया। उधर से दृष्टि लौटाके दूसरे एकान्त स्थान पर जाकर समाधिस्थ हो गये। जब चूडाला ने देखा कि इसके मन में किसी प्रकार का विकार या राग-द्वेष पैदा नहीं हुआ तो वह मदनिका के शरीर को त्याग कर अपने वास्तविक स्वरूप चूडाला के रूप में प्रकट हो गई। राजा ने कहा—"सुन्दरी! तुम अपने शरीर से, व्यवहार से चूडाला ही जान पड़ रही हो।" चूडाला बोली, प्रभो! निःसन्देह मैं चूडाला हूँ। पहले जो देवपुत्र, इन्द्रादि के काया निर्माण द्वारा जो माया प्रपञ्च प्रकट किया था वह तो आपको प्रबुद्ध कराने के लिए ही किया गया था। देवपुत्र, मदनिका आदि के शरीर-निर्माण का एकमात्र प्रयोजन आपको प्रबुद्ध कराना था वे सब वास्तविक नहीं थे। अब आप भी समर्थ हो इसलिए अपने ध्यान योग के द्वारा सारा वृत्तान्त जान लीजिये।

क्षण भर में ही राजा ने अपने राज्य परित्याग से लेकर चूडाला के साक्षात् पर्यन्त जितनी घटनायें घटी थीं, सबको प्रत्यक्ष रूप से देख लिया। फिर राजा ने चूडाला से कहा, देवि! तुमने घोर कष्ट उठा करके मुझे दुस्तर भव-कूप से बचा लिया है। चूडाला बोली—अब हम दोनों के अज्ञान का विनाश हो गया है, इसलिए हम विदेह मुक्त हो जायेंगे तथा हम सदा अपने स्वरूप में स्थित रहेंगे, इसलिए आप अपनी शेष आयु को राज-काज में बिताइये। इस प्रकार महा योगिनी चूडाला की योगशक्ति के द्वारा राजा ने दस-सहस्र वर्षों तक राज्य करके परमपद स्वरूप मोक्ष को प्राप्त कर लिया।

❀ योग की महत्ता ❀

साधक साधे इष्ट निज, कर-कर प्रबल-प्रयास,
जग-जन जीवन को सफल, करता योगाभ्यास।

—श्री गौरीशङ्कर द्विवेदी 'शङ्कर'

कबीर साहब की दृष्टि में —

योग-साधना-रहस्य !

● द्वारा श्री दुर्गासिंह तोमर

कबीर साहब ने योग को ही मुख्य साधन मानकर उसे अत्यन्त कठिन भी बताया है। उन्होंने कहीं-कहीं अपनी रचनाओं में योग को सुरति-योग अथवा भाव-भगति के नाम से लिखा किया है। उनका कहना है कि 'भाव-भगति' दुहेली अर्थात् दुःसाध्य कार्य है, यह कायरों के बस की बात नहीं, यह एक प्रकार से तलवार की धार के समान तेज़ होती है, जिस पर चढ़कर तनिक भी असावधानी करने से कटकर विनष्ट हो जाने की सम्भावना बनी रहती है। उनकी दृष्टि में साधक अपने नाना प्रकार के प्रयत्न व विधियों को प्रयोग में लाते हैं, लेकिन सबके लिए उस भेद व 'रहस्य' को पा सकना कठिन है, जिसके द्वारा आत्म-दर्शन कराये जाने वाले हृदय की उपलब्धि हुआ करती है। उस रहस्य के ज्ञान बिना हमारा मन बाहर से स्वच्छ होने पर भी वास्तव में अन्दर से मैला ही बना रहता है और छल कपट वहाँ से निर्मूल व निर्बीज नहीं हो पाता। केवल नेत्रों के उज्ज्वल और निर्दोष दीख पड़ने से हृदय में 'विकार' के रहते हुए सच्ची भक्ति की सम्भावना किसी प्रकार भी नहीं की जा सकती। कबीर साहब इस रहस्य का नाम 'भाव' अथवा 'भेद' निर्दिष्ट करते हैं और अपनी योग-साधना को भी उसी के अनुसार 'भाव-भगति' कहा करते थे। उनका कहना है कि हरि के साथ 'गठजोग' यथार्थ में भाव-भगति के बगैर नहीं हो सकता। भाव-भगति कहने-सुनने की बात नहीं, यह केवल अनुभव गम्य साधना है। उसके लिए सर्व प्रथम 'सद्गुरु' की वह कृपा अपेक्षित है, जिससे उस अनन्त को प्रत्यक्ष करने के साधन स्वरूप हमें अनन्त नेत्रों की उपलब्धि हो जाय, हमें उस सच्चे सूर का वह शब्द बाण लग जाय, जिसके मर्म स्थान तक पहुँचते ही सारा भेद आप से आप खुल सके और शरीर में एक प्रकार की ज्वाला व्याप्त होकर हमें निस्तब्ध कर दे। तभी हमारे हृदय में वह बलवती अभिलाषा भी जागृत होगी। यह जिज्ञासा जिस किसी के अन्दर जगी, उसे दिन-रात चैन नहीं, वह निरन्तर अपने ही मन के साथ—अविश्रान्त रूप से बिना किसी हथियार की सहायता के भी संग्राम करने को विवश हो जाता है।

श्री गुरु कृपा की उपलब्धि के पश्चात्

साधक को यत्नपूर्वक अपने मन को वश में लाने हेतु सच्ची लगन से प्रयत्नशील होना चाहिए। बिना मन की शुद्धि के सुरति-योग की प्राप्ति नहीं हो सकती। कबीर साहब का कहना है कि मन के रहस्य को बड़े बड़े भक्तों व साधकों तक ने नहीं जान पाया। वह 'अलख निरञ्जन' व निर्मल मनमें अपने तन के भीतर ही वर्तमान है, किन्तु उसकी जानकारी बिरले पुरुषों को है। उनके ही शब्दों में मन में विकार रहते हुए आवागमन से मुक्त होना असम्भव है। मनके निर्विकार होने पर उसका 'निर्मल' में प्रवेश आपसे-आप ही हो जाता है। यथा—

जल बिच मीन पियासी,
मोहि सुन-सुन आवे हाँसी।
घर में वस्तु धरी नहिं सूझे—
बाहर खोजन जासी।
मृग की नाभि माँहि कस्तूरी—
बन-बन फिरत उदासी॥

कबीर साहब के मत में सब कुछ शरीर के अन्दर ही है, लेकिन अज्ञान के कारण हम इधर-उधर उसे ढूँढ़ते फिरते हैं। जलके मध्य में मछली होते हुए भी प्यासी रहना हँसी का विषय है।

उस परम तत्व को प्राप्त करने का उपाय क्या है तथा उसका वास्तविक स्वरूप क्या है? कबीर साहब कहते हैं कि वह वस्तु एक रहस्यमय 'कुछ' है, जिसका शाश्वत होने के कारण मरना व जीना कभी नहीं हुआ। जो पंच-तत्वों के 'मेला' तथा 'चपल बुद्धि के खेला' से भी परे रहा करता है, जो सब किसी के लिए अन्तिम लक्ष्य है और जिसे हमारे सद्गुरु 'आपा' अथवा ब्रह्म कहकर निर्दिष्ट किया करते हैं। वही अगोचर वस्तु बहुधा राम-नाम से भी अभिहित होती है। उसकी पूरी प्यास मिटाने के लिए ओस चाटने से काम नहीं चलता, समुद्र में डुबकी लगानी पड़ती है उसे हम भौतिक पंच तत्वों से सम्बन्ध विच्छेद करने पर ही प्राप्त कर सकते हैं अर्थात् जब पृथ्वी का गुण पानी में चला जाता है, पानी तेज में मिल जाता है, तेज पवन से मिलता है और पवन शब्द के साथ लीन होकर शून्य में प्रवेश कर जाता है उस समय सारी वस्तुएँ, एक ही स्वर्ण के बने किन्तु गलाये जाने पर पुनः गलकर एक हो जाने वाले भिन्न-भिन्न प्रकार के गहनों की भाँति, एक रूप हो जाती हैं। साधक की साधना पूरी होने पर कुछ इसी प्रकार की स्थिति हो जाती है।

कबीर ने उक्त नाम नामक वस्तु को षट् चक्र की कनक कोठरी में निहित बतलाया है और कहा है कि उसे पाने के लिए उसमें पड़े ताले को जुगति की कुंजी से क्रमशः खोलना चाहिए। उसके पवन द्वारा षटचक्र-वेधन होने पर 'सम्भार' व नूर अथवा हरा व निराला

नामक दो प्रसिद्ध नाड़ियों के पहुँच से भी दूर हमें अपने मेरुदण्ड का वह सिरा मिलता है, जहाँ मन के 'सुषि' में प्रवेश कर स्थिर होते ही बिना किसी धुन के अस्तित्व के भी सारा आकाश गुञ्जित हो उठता है और परमज्योति के प्रकाश में अनन्त तारों और बिजली की चमक-सा अनुभव होने लगता है, तभी हमें अनहद का शब्द भी सुन पड़ता है और सद्गुरु की कृपा द्वारा इस प्रकार सम्पुट के खुल जाते ही सुरति सुन्न में समा जाती है और 'आपा' आपमें लीन हो जाता है कबीर के शब्दों में—

सत्गुरु तेरी रे अटरिया,
झिलमिल झिलमिल होय।
ऊँची अटरिया चंदन किवड़िया,
रही नैन में जोय।
पहुँचेगा कोई सन्त विवेकी,
कुटिल कुमति निज खोय।
चांद सूरज दो मारग कहिये,
रहे गगन में सोय।
त्रिकुटी मध्य जगो सुमिरनी,
पवन सूत में पोय।
गगन न गरजे धरनि न बरसे,
बादल बूँद न होय।
आठ पहर जहाँ अमृत बरसे,
पीकर हँस अमोय।
कहत कबीर सुनो भई साधो,
गुरु से मिले सब कोइ।
जो सद्गुरु का दर्शन पावे,
जन्म मरण ना होय॥

कबीर साहब कहते हैं कि उस समय साधक का मन उन्मन अर्थात् उपर्युक्त निर्मल मन से लग जाता है और दोनों नमक व पानी की भाँति घुलकर एक हो जाते हैं। यह अवस्था वर्णनातीत है अर्थात् गगन-मण्डल में विलीन होकर साधक इतना ही निश्चय कर पाता है कि वास्तव में मैंने कुछ नहीं किया। न कहीं गया व कहीं से आया भी नहीं।

कहने की आवश्यकता नहीं कि उपर्युक्त प्रकाश को कबीर साहब ने 'अनन्त' या परम-ब्रह्म का तेज कहा है और उसे असंख्य सूर्यों के समान प्रखर बतलाते हुए भी स्निग्ध चन्द्रिका की भाँति शीतल भी माना है। यह कहने की वस्तु नहीं, वहाँ पहुँचने पर साधक को किसी प्रकार की चिन्ता तथा कल्पना तक नहीं सताती और उसका मन एक प्रकार से विलमला-सा व अमलता हो जाता है। आत्म-राम प्रेम-भक्ति के हिंडोले पर झूलते हुए अमृतरस-पान कर शाश्वत आनन्द का अनुभव करता है। कबीर के शब्दों में—

गगन-मण्डल में औंधा कुआँ,
तहाँ अमृत का वासा।
सगुरा होइ सो भरि-भरि पिया,
निगुरा जाय पियासा॥

कबीर जी ने साधक के इस साधना रूपी पुरुषार्थ को 'करनी' शब्द से सम्बोधित किया है, उस 'करनी' द्वारा कर्मों का नाश होकर पाप एवं पुण्य इन दोनों का भ्रम भी समाप्त

हो जाता है। ममता एवं अभिमान योगाग्नि में जलकर भस्म हो जाते हैं, मोह का ताप लुप्त हो जाता है और वासना भुनकर अंकुर बीज के साथ नितान्त निर्मूल हो जाती है। घट की ज्योति से ही सारा जग प्रकाशमान दिखाई देता है और सर्वत्र आप ही आप का अनुभव होने लगता है। इसे दूसरे शब्दों में कबीर जी ने सहज समाधि का नाम दिया है।

'हेरत हेरत हे सखी, रह्या कबीर हिराय,
बूँद समानी समुद में, सो कत हेरी जाय'

ऐसी अवर्णनीय अवस्था उत्पन्न हो जाती है। कबीर जी की साधना में इस बात पर सर्वत्र जोर दिया गया है कि बिना सद्गुरु की कृपा के कुछ भी प्राप्त होना सम्भव नहीं है। सद्गुरु की कृपा से ही साधक के अन्तःकरण में शुभभावना जाग्रत होकर परम तत्व प्राप्ति की दृढ़ धारणा हो जाती है व शनैः शनैः साधक सहज समाधि को प्राप्त हो जाता है—

सहज समाधि उनमनी जोग,
सहज मिले रघुराई।
जहँ जहँ देखूँ तहँ तहँ पाऊँ,
मन मानिक बेध्यो हीरा।
परम तत्व यह गुरु से पावै,
कह उपदेश कबीरा।

कबीर जी के पदों में उनके द्वारा की गई साधना के कुछ तथ्यों को उन्होंने सांकेतिक भाषा में वर्णन जगह जगह पर किया है—

धरती आकाश के आर।
योजन अष्ट प्रमाण॥
तहाँ सुरति लै राखियो।
देह धरे नहिं आन॥
सुरति फँसी संसार में।
तातें परिगयो दूर॥
सुरति बाँधि स्थिर करै।
आठों पहर हजूर॥
डोरी आई ऊपर से।
उपरहि दरसन होइ॥
काया से न्यारा नहीं।
हंस कहावै सोइ॥

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट होता है कि कबीरदास जी समर्थ योगी थे। उन्होंने अपनी साधना-प्रणाली में ध्यान-योग का आश्रय लिया था तथा सद्गुरु की पूर्ण कृपा प्राप्त कर अपने जीवन को कृतार्थ किया था। उनके पदों में दिये गये विवेचन से यह बात प्रकाश में आती है कि उन्होंने षट्-चक्रों को भेद न करते हुए मन की पूर्ण एकाग्रता प्राप्त कर आत्म-साक्षात्कार किया था। मन को स्थिर करने की इस पद्धति को उन्होंने सुरति-योग कहकर उसे अत्यन्त सरल व श्रेष्ठ बताया। कबीर जी के अलावा सन्त पलटू साहब ने भी सुरति योग का आश्रय लेकर अपने जीवन को कृतकृत्य किया था, जैसा कि उनकी निम्न कुण्डलियों से ज्ञात होता है—

कमठ दृष्टि जो लावही सो ध्यानी परमान।
सो ध्यानी परमान सुरति से अण्डा सेवै,
आप रहै जल माहि सूखे में अण्डा देवै।
जस पनिहारी कलश धरि मारग में आवै,
कर छोड़ै मुख वचन सुरति कलशा में लावै।

साधना-पथ

★ ब्रह्म० श्री ओमप्रकाश पालीवाल

आत्मा की प्राप्ति अथवा ईश्वर साक्षात्कार के लिए जितने भी प्रयत्न मनुष्य करता है वह सब 'साधन' कहे जाते हैं। जप, तीर्थ-यात्रा, मूर्ति-पूजन इत्यादि बाहरी साधन हैं, जिनसे आत्मा का विकास होता है, क्षेत्र तैयार होता है. यह कोर्स प्रारम्भ के साधकों के लिए है। आगे आन्तरिक साधन की बारी आती है। साधक मन व बुद्धि के विकारों को दूर करने के यत्नों में लगता है, अन्तःकरण को शुद्ध करता है, उसके मल, विक्षेप व आवरणों को हटाता है। इस प्रकार धारणा और ध्यान से लेकर अनेक प्रकार की समाधियों का आनन्द लेता हुआ असंप्रज्ञात समाधि में पहुँच जाता है। वास्तव में 'साधना' यही है, इसी का यह शब्द प्रयोग किया जाता है।

आत्म-तत्त्व तक पहुँचने का जो मार्ग है उसे शास्त्रकारों ने पाँच भागों में बाँटा है, यही आध्यात्म मार्ग की पाँच मञ्जिलें कहलाती हैं, इन पाँचों से परे पहुँचना ही साधना का लक्ष्य है—

(१) अन्नमय कोश, (२) प्राणमय कोश, (३) मनोमय कोश (४) विज्ञानमय कोश, (५) आनन्दमय कोश। इन पाँचों मञ्जिलों को पार करने के साधन भी अलग-अलग हैं। कुछ ऐसे कर्त्तव्य हैं जो पहली मंजिल तय करते हैं, कुछ ऐसे हैं जो दूसरी के पार ले जाते हैं। कुछ तीसरी, कुछ चौथी के, इसी तरह एक के बाद दूसरी का नम्बर आता है। एक ही साधन अन्त तक काम में नहीं आता, जो साधन अन्नमय कोश के हैं, वह प्राणमय कोश में काम नहीं देते। जो प्राणमय कोश के हैं,

[पिछले पृष्ठ का शेष]

फनि मनि धरहि उतारि आप चरने को जावै,
वह नहिं गाफिल रहै सुरति मन माहि रहावै।
पलटू कारज सब करै सुरति रहै अलगानि,
कमठ दृष्टि जो लावहीं सो ध्यानी परमान।

उपरोक्त कुण्डली में कितनी स्पष्ट तथा व्यावहारिक ध्यान प्रणाली का उल्लेख लेखक ने किया है। कमठ, पनिहारी तथा सर्प जिस प्रकार अपने-अपने अन्य कार्य करते हुए अपनी सुरति अर्थात् ध्यान को मुख्य ध्येय में लगाये रहते हैं, उसी प्रकार योगके साधकों को अपने इष्टदेव में सुरति स्थिर करने का निर्देश भी दिया है।

वह मनोमय को तय नहीं करा सकते इसी प्रकार अन्यों का क्रम है। साधना में मार्ग-दर्शक (गुरु) की इसीलिए आवश्यकता होती है कि वह साधक के अनुरूप साधना क्रम बताये।

उदाहरण के लिए एक व्यक्ति मरुदेश (राजस्थान) का रहने वाला है, वह घर से उत्तराखण्ड की यात्रा के लिए चले तो घर से निकलते ही उसे रेतीला मैदान मिलेगा जिसे पार करने का साधन ऊँट है। ऊँट पर बैठकर ही इसे पार किया जा सकता है, इसे पार करने के बाद उसे आगे एक दरिया मिले तो उसे ऊँट को वहीं छोड़ना होगा, दरिया को पार करने के लिए उसे नौका में जाना होगा। अब तीसरी मंजिल में उसे रेल मिली, अब उसे रेल में बैठकर यात्रा करनी होगी। रेल ने भी पर्वतमाला के नीचे उसे घाटी के मैदान में छोड़ दिया अब चौथी मंजिल का साधन वहां उसे मोटर मिली उसने उसे कई मील तक आगे बढ़ाया फिर वह भी रुक गई, अब पांचवीं मंजिल आई। एक बड़ा विशाल पर्वत सम्मुख उसके सामने खड़ा था। उसको अब उसे पैदल ही स्वयं चलकर तय करना था। अब उस व्यक्ति के लिए पांचवीं मंजिल को तय करने के लिए बाहरी कोई साधन नहीं है इसको उसे स्वयं ही तय करना होगा। वह व्यक्ति पांचवीं मंजिल पर चढ़ता है और गिर पड़ता है। उसने देखा कुछ व्यक्ति ऊपर चोटी पर हैं, उसने घबरा कर उनको पुकारा आश्रय मांगा। उन्होंने अपनी-अपनी युक्ति के अनुसार उसे आश्रय दिया। जो व्यक्ति ऊपर की चोटी पर थे, वही गुरु हैं जो शिष्य को पांचवीं मंजिल तय कराते हैं।

अन्नमय कोश रेतीला मैदान है। पृथ्वी तत्त्व से तैयार होता है इसलिए बाहरी कर्मों से ही यह तय किया जाता है। यम नियम तप करना, व्रत रखना, तीर्थ, मूर्ति पूजा इत्यादि अन्नमय कोश के साधन हैं। योगी लोग षट् कर्मों द्वारा इसे शोधते हैं। हठयोग के साधन आसन, मुद्रा, बन्ध इस रास्ते को तय कराने के साधन हैं। प्राणमय कोश वायु प्रधान है। इसे तय करने के लिए योगियों ने प्राणायाम का साधन बताया है। उपासना मनोमय कोश का साधन है। प्रत्याहार, धारणा उपासना की दो क्रिया हैं। इसी प्रकार ध्यान विज्ञानमय कोश का और समाधि आनन्दमय-कोश का साधन है। जो लोग जिन्दगी भर एक ही साधन को करते रहते हैं वह आगे नहीं बढ़ पाते। उदाहरण के लिए जो विद्यार्थी जीवन भर एक ही कोर्स को दुहराता रहता है वह आगे नहीं बढ़ पाता साधक जिस समय से साधना के क्षेत्र में पैर रखता है उसी समय से उसे 'गुरु' की आवश्यकता होती है। क्योंकि यह रास्ता न तो साधक स्वयं ही तय कर सकता है और न केवल उसे पुस्तकें ही इस मार्ग को तय कराने में समर्थ हैं। इसके लिए

तो गुरु की सहायता लेना अनिवार्य है।

साधना का आरम्भ श्रद्धा और विश्वास से होता है, साधक की गुरु के प्रति पूर्ण श्रद्धा हो और उसके बताये हुए साधन पर पूर्ण विश्वास हो तब ही साधक उन्नति कर सकता है। इसलिए विश्वास लाने और ईश्वर व गुरु में श्रद्धा बढ़ाने का प्रयत्न करना साधना का प्रथम कर्त्तव्य है। जब तक साधक के अन्दर विश्वासी अवस्था न आवे तब तक समझना, सोचना, शंका करना, सत्संग करना उचित है। विश्वास के निर्बल हो जाने पर साधक को अपनी साधना प्रारम्भ कर देनी चाहिए।

जब साधक के मन में और बुद्धि में गुरु के (ईश्वर) के प्रति तर्क और अविश्वास की जगह नहीं रहती। वहीं समय समर्पण और साक्षात्कार का होता है उसकी तीन अवस्था होती है। प्रथम अवस्था में साधक गुरु को मनुष्य रूप में देखता है परन्तु साथ ही साथ यह भी समझता है कि यह साधारण मनुष्य नहीं है, यह ईश्वरीय विद्या के जानकार हैं। इनके बताये हुए मार्ग पर चलने से हमारा कल्याण हो सकता है। यह साधक की प्रथम अवस्था है। दूसरी अवस्था में साधक गुरु को ईश्वर समान समझता है। गुरु को ईश्वर न समझना बल्कि ईश्वर के समान समझना इसमें गुरु का अपमान तो है ही। लेकिन प्रथम अवस्था से यह उत्तम है जो साधक को आगे बढ़ाती है। अन्तमें साधक की तीसरी अवस्था आती है। इसमें साधक पूर्णतः गुरु को ईश्वर ही समझता है। साधक के अन्दर भेदभाव मिट जाता है साधक का 'अहं' मिट के गुरु के रूप में समा जाता है। न हम हैं न ईश्वर है केवल गुरु है। गुरु ही ईश्वर है, ईश्वर ही गुरु है यह भाव साधक की बुद्धि को पाते हैं। साधक इस तीसरी अवस्था के आते ही अपने लक्ष्य की प्राप्ति कर लेता है।

साधना का उद्देश्य मनकी चंचलता को नष्ट करके मनको एकाग्र करना और चित्तकी वृत्तियों का निरोध करना है। निरोध होने पर ही दर्शन मिलता है, परमात्मा से पूर्ण योग होता है, योग होते ही जीव के सारे क्लेश और बन्धन दूर हो जाते हैं, साधक को अपने स्वरूप का ज्ञान हो जाता है, बुद्धि में विकार मन के कारण आता है, मन के शान्त होते ही बुद्धि निर्मल होकर स्थिर हो जाती है और आत्मा भी फिर शान्त हो जाती है। अन्य अवस्थाओं में आत्मा चित्त के साथ मिलकर उसीका रूप धारण कर लेता है और द्रष्टापन का अभिमान त्याग कर कर्ता और भोक्ता अपने को समझने लगता है, इसी कारण उसे दुःख होता है। इसके उस भ्रम को दूर कर देना और उसके वास्तविक रूप को उसे दिखा देना साधना का उद्देश्य है। यह आत्मा ज्ञान प्राप्त करके अपने असली रूप को देखकर सन्तुष्ट हो जाता है। भगवान् पतञ्जलि के अनुसार—"वृत्ति सारूप्यमितरत्र" इसी

छान्दोग्योपनिषद् के आधार पर—

गुरु-आज्ञा और ब्रह्म-ज्ञान *

● श्री केशव उपाध्याय, कसया (देवरिया)

भारतीय संस्कृति का प्रत्येक धार्मिक ग्रंथ इस बात का प्रत्यक्ष उदाहरण प्रस्तुत करने में सर्वथा समर्थ है कि प्राणी मात्र के कल्याण का मूल कारण श्री गुरु आज्ञा का अक्षरश: पालन करना ही है। अपने श्री सद्गुरु देव भगवान भी अपने विभिन्न योग-प्रचार कार्यक्रमों में सदा-कदा उदाहरण द्वारा अपने मुखारविन्दु से इस तथ्य को समझाया करते हैं। छान्दोग्य उपनिषद के आधार पर इस विषय को प्रमाणित करने वाले एक दृष्टान्त का वर्णन यहाँ किया जा रहा है।

जबाला नामक एक सदाचारिणी ब्राह्मणी को सत्यकाम नाम का एक पुत्र था। सत्यकाम के जन्म के कुछ समय के पश्चात् उसके पिता का शरीर छूट गया। सत्यकाम जब कुछ बड़ा हुआ तो उसने अपनी माता से कहा "माँ, अब मैं बड़ा हो गया हूँ अब मुझे गुरुकुल में जाकर गुरु की सेवा, विद्याध्ययन और ब्रह्मज्ञान प्राप्त करना चाहिए।" अपने पुत्र के मुख से ऐसे पवित्र भाव सुनकर माता का हृदय आनन्द से भर गया और उसने कहा "बेटा, तुम्हें ब्रह्मचर्य आश्रम में रहते हुए गुरुकुल में उपरोक्त

(पिछले पृष्ठ का शेष)

अभिप्राय से साधना की जाती है और निरोध होने पर वह समाप्त हो जाती है फिर उसका नाम साधना नहीं रहता सिद्धि हो जाता है।

प्रत्येक मनुष्य के विचार, भाव, कर्म, रुचि तथा सामर्थ्य व संस्कार अलग-अलग होते हैं, इसलिए एक ही उद्देश्य के लिए भिन्न-भिन्न साधन प्रणाली बनाई गई है। इनके सहस्रों भेद होने पर भी ये सब तीन ही के अन्तर्गत हैं, जिनमें इन्द्रिय और शरीर को साथ लेकर मन काम करता है और जीवात्मा जिसमें अपने को कर्ता समझता है, वह 'कर्म योग' कहलाता है। हठयोग, आसन, मुद्रायें प्राणादि कर्म-योग के साधन हैं। दूसरी साधना उपासना है जो किसी बाहरी साधनों से न होकर केवल मन से ही किया जाता है। बाहरी कोई क्रिया इसमें नहीं होती और न प्राणी अपने को कर्ता समझता है। ध्यान, धारणा एकाग्रता और निरोध यह सब उपासना के अन्तर्गत ही हैं। तीसरा ज्ञान-योग है, जो मन के एकाग्र होने के पश्चात् बुद्धि के द्वारा किया जाता है, इसका साधन, स्वाध्याय (मन्त्र-जाप) सत्संग और विवेक है। सारी साधनायें यहीं तक चलकर समाप्त हो जाती हैं। इसके आगे साधना नहीं है बल्कि सिद्धि है। ●●

का पालन करना ही चाहिए।" जाते वक्त सत्यकाम ने पूछा माँ ! यदि गुरु जी हमारा गोत्र पूछेंगे तो हम क्या बतलायेंगे ? माता ने कहा, बेटा ! तुम्हारे पिताजी जब इस संसार में उपस्थित थे उनके यहाँ प्रायः हमेशा अतिथि आया करते थे। हम दोनों पति-पत्नी अतिथि को देव तुल्य समझ कर सत्कार किया करते थे और हमेशा व्यस्त रहा करते थे अतः उनसे कुछ पूछने का मौका ही नहीं मिला। माता ने आदेश दिया, बेटा ! जाओ, यदि आचार्य जी तुमसे कुछ पूछें तो उनसे प्रार्थना करना कि "मैं जबाला ब्राह्मणी का पुत्र सत्यकाम हूँ।"

माता की आज्ञा पाकर सत्यकाम महर्षि गौतम ऋषि के पास गया और प्रार्थना करके बोला कि "हे भगवन् ! मैं ब्रह्मचर्य का पालन और आपकी सेवा करता हुआ ब्रह्मज्ञान प्राप्त करना चाहता हूँ।" गुरु ने बड़े प्रेम से पूछा "सौम्य ! तेरा गोत्र क्या है ?" श्री सत्यकाम ने इस सम्बन्ध में माता की कही बात बतलाई कि "अतिथि सेवा में व्यस्तता के कारण माताजी उनसे (पिताजी से) गोत्र नहीं पूछ सकीं और उनके मरने पर उन्होंने किसी से गोत्र पूछना ठीक नहीं समझा।" वैसे मैं जबाला ब्राह्मणी का पुत्र सत्यकाम हूँ। सत्यवादी सत्यकाम की सच्ची बात सुनकर ऋषि गौतम प्रसन्न हो गये उन्होंने विधिवत् उपनयन संस्कार कराया उसके बाद वेदाध्ययन कराया। इसके पश्चात् अपनी गोशाला में से चार सौ दुबली-पतली गायें चुनकर अधिकारी शिष्य से कहा "पुत्र ! इन गायों को चराने वन में ले जा। देख, जब तक इनकी संख्या एक हजार न हो जाय वापस न आना।" इतना सुनकर सत्यकाम सब गायों को लेकर जिस वन में चारा और पानी की सुविधा थी, चला गया और अनेक वर्षों तक गायों की सेवा करता रहा।

गुरु-भक्ति और गुरु आज्ञा-पालन का कितना सुन्दर दृष्टान्त है। गुरु के पास रहकर सेवा करने और ब्रह्म ज्ञान प्राप्त करने के लिए गायें। शिष्य को गुरु गौ चराने के लिए वन में भेज देते और वह चुपचाप आज्ञा शिरोधार्य कर वर्षों तक निर्जन वन में रहने चला जाता। यह बात ज्ञान-पिपासु गुरु-आज्ञा-पालक शिष्य में ही पाई जाती है।

अब सत्यकाम को गुरु आज्ञा-पालन में ही महान आनन्द का अनुभव हो रहा है। सेवा करते-करते गौओं की संख्या पूरी एक हजार हो गई। एक दिन एक वृषभ ने आकर कहा, सत्यकाम ! हमारी संख्या एक हजार हो गई है, अब हमें गुरु के घर ले चलो। मैं तुम्हें ब्रह्म के एक पाद का उपदेश करता हूँ। उसके बाद वृषभ ने ब्रह्म के एक पाद का उपदेश देकर कहा, 'इसका नाम प्रकाशवान् है', अगला उपदेश तुम्हें अग्निदेव करेंगे। दूसरे दिन सत्यकाम गौओं को हाँककर आगे चला। रास्ते में पड़ाव

डालकर उसने गौओं के साथ रात्रि निवास किया। तदन्तर आग जलाकर सामने बैठ गया। इसके पश्चात् अग्निदेव आये उन्होंने कहा, सौम्य! मैं तुझे ब्रह्मज्ञान के द्वितीय पाद का उपदेश करता हूँ। अग्निदेव ने द्वितीय पाद का उपदेश करके कहा, इसका नाम अनन्तवान् है। अगला उपदेश तुझे हंस करेगा। प्रातः काल होने पर सत्यकाम गुरुगृह के रास्ते में आगे बढ़ा और रात में गौओं के साथ एक सुन्दर जलाशय के किनारे रुक गया। इसके पश्चात् किनारे पर आग जला कर सामने बैठ गया। इतने में एक हंस आया और बोला सत्यकाम! मैं तुम्हें ब्रह्म के तीसरे पाद का उपदेश करता हूँ तत्पश्चात् हंस ने तीसरे पाद का उपदेश करके कहा "अगला उपदेश तुझे जलमुर्ग करेगा। इसके पश्चात् सत्यकाम फिर आगे चला और रात में एक वट-वृक्ष के नीचे गौओं का उचित प्रबन्ध करके बैठ गया। इसके पश्चात् अग्नि जलाकर पूर्वाभिमुख होकर बैठ गया। इतने में एक जलमुर्ग ने आकर कहा, मैं तुझे ब्रह्म के चतुर्थ पाद का उपदेश करता हूँ। तदन्तर जलमुर्ग ने आयतनवान् रूप से ब्रह्म का उपदेश किया।

इस प्रकार सत्य, गुरु आज्ञा पालन और गौ सेवा के प्रताप से वृषभ रूप वायु, अग्निदेव हंस रूप सूर्यदेव, मुर्ग रूप प्राण देवता से ब्रह्मज्ञान प्राप्त कर, एक हजार गौओं के बड़े समूह को लेकर सत्यकाम, आचार्य गौतम के घर पहुँचा। उस समय उसके मुख-मण्डल पर ब्रह्मतेज छिटक रहा था, आनन्द की किरणें झिलमिला रही थीं। गुरु ने सत्यकाम की चिन्ता रहित, तेजपूर्ण दिव्य मुख कान्ति को देखकर कहा, हे सौम्य! तू ब्रह्मज्ञानी के सदृश दिखाई दे रहा है। वत्स तुझको किसने उपदेश किया? सत्यकाम ने कहा "भगवन् मुझको मनुष्येतरों से उपदेश प्राप्त हुआ है। यों कह कर उसने सारा हाल कह दिया। उसने कहा "मैंने सुना है कि—

भगवद्दृशेभ्य आचार्याद्धैव
विद्या विदिता साधिष्ठम्"।

आप-सदृश आचार्य के द्वारा प्राप्त की हुई विद्या ही श्रेष्ठ होती है, अतः मुझे आप ही पूर्ण रूप से उपदेश कीजिये।" गुरु प्रसन्न हो गये और उन्होंने कहा वत्स, तूने गुरु आज्ञा पालन से जो कुछ प्राप्त किया है, वही ब्रह्मत्व है। अब तेरे लिए कुछ भी जानना शेष नहीं रहा।

—कहीं भी आसक्ति न रख कर मन को अपने वश में करके निष्काम बुद्धि से चलने पर (कर्मफल) के संन्यास द्वारा परम नैष्कर्म्य—सिद्धि अर्थात् कर्मों को करते भी कर्मफल के बन्धन से न बन्धन रूप सिद्धि प्राप्त हो जाती है॥

दीक्षा एवं गुरु :

श्री मानिकचन्द, उमर वैश्य

श्री गुरुदेव जी की कृपा और शिष्य की श्रद्धा इन दो पवित्र धाराओं का संगम ही दीक्षा है। गुरु का आत्मदान और शिष्य का आत्मसमर्पण एक की कृपा, दूसरे की श्रद्धा के अतिरेक से ही सम्पन्न होता है। दान और क्षय यही दीक्षा का अर्थ है। ज्ञान, शक्ति और सिद्धि का दान एवं अज्ञान, पाप और दारिद्र्य का क्षय इसी का नाम दीक्षा है। सभी साधकों के लिए यह दीक्षा अनिवार्य है, चाहे जन्मों की देर लगे, परन्तु जब तक ऐसी दीक्षा नहीं होगी, तब तक सिद्धि का मार्ग रुका ही रहेगा। यदि समस्त साधकों का अधिकार एक होता, यदि साधनायें बहुत नहीं होतीं और सिद्धियों के बहुत से स्तर न होते तो यह भी सम्भव था कि बिना दीक्षा के ही परमार्थ की प्राप्ति हो जाती परन्तु ऐसा नहीं है। इस मनुष्य-शरीर में कोई पशु-योनि से आया है और कोई देव-योनि से कोई पूर्व जन्म में साधन-सम्पन्न होकर आया है और कोई सीधे नरक-कुण्ड से, किसी का मन सुप्त है और किसी का जागृत। ऐसी स्थिति में सबके लिए एक मन्त्र, एक देवता और एक ध्यान हो ही नहीं सकते। यह सत्य है कि सिद्ध साधक, मन्त्र और देवताओं के रूप में एक ही भगवान प्रकट है। फिर भी किस हृदय में, किस देवता और मन्त्र के रूप में उनकी स्फूर्ति सहज है— यह जानकर उसी रूप में उनको स्फुटित करना यह दीक्षा की विधि है।

दीक्षा एक दृष्टि से गुरुकी ओर से आत्मदान, ज्ञान-संचार या शक्तिपात है तो दूसरी दृष्टि से शिष्य में सुषुप्त ज्ञान और शक्तियों का उद्बोधन है। दीक्षा से ही शरीर की अशुद्धियाँ मिट जाती है। देह-शुद्धि होनेसे देव-पूजा का अधिकार मिल जाता है। गुरु और शिष्य आदि से यह सम्बन्ध चला आ रहा है। यदि परम्परा की दृष्टि से देखें तो मूल पुरुष परमात्मा से ही ब्रह्मा, रुद्र आदि के क्रम से ज्ञान की परम्परा चली आई है और एक शिष्य से दूसरे शिष्य में संक्रान्त होकर वही वर्तमान में भी गुरु है।

दीक्षा बहुत बार नहीं होती, क्योंकि एक बार रास्ता पकड़ लेने पर आगे के स्थान स्वयं ही आते रहते हैं। पहली भूमिका स्वयं ही दूसरी भूमिका के रूप में पर्यवसित होती है। साधना का अनुष्ठान क्रमशः हृदय को शुद्ध करता जाता है और उसी के अनुसार सिद्धियों का उदय एवं ज्ञान का सान्निध्य भी प्राप्त

होता जाता है। ज्ञान की पूर्णता ही साधन की पूर्णता है। शिष्य के अधिकार भेद से ही मन्त्र और देवता का भेद होता है। जैसे सद्वैद्य रोग का निर्णय होने के पश्चात् ही औषधि का प्रयोग करते हैं। यदि रोग-निर्णय ठीक हो, औषध और उसका व्यवहार नियमित रूपसे हो, रोगी कुपथ्य न करे तो औषध का फल प्रत्यक्ष देखा जाता है। इसी प्रकार साधक के लिए उसके पूर्व जन्म की साधनायें, उसके संस्कार, उसकी वर्तमान वासनायें जान कर उसके अनुकूल मन्त्र और देवता का निर्णय किया जाय और साधक उन नियमों का पालन करे तो वह बहुत थोड़े परिश्रम से और बहुत शीघ्र ही सिद्धि लाभ कर सकता है।

सामान्यतः दीक्षा के तीन भेद माने गये हैं—शाक्ती, शाम्भवी और मान्त्री। मान्त्री दीक्षा ही रुद्रयामल आदि ग्रन्थों में आणवी के नाम से प्रसिद्ध है। शाक्ती दीक्षा का विवरण करते हुए कहा गया है कि परम चेतन रूपा कुण्डलिनी ही शक्ति है। उसको जाग्रत करके ब्रह्म-नाड़ी में से होकर परम शिव में मिला देना ही शाक्ती दीक्षा है। इस दीक्षा में ही श्री गुरुदेव शिष्य के अन्तर्देह में प्रवेश करके कुण्डलिनी-शक्ति को जाग्रत करते हैं और अपनी शक्ति से ही उसको मिला देते हैं, इसमें शिष्य को अपनी ओर से कोई भी क्रिया नहीं करनी पड़ती।

शाम्भवी दीक्षा का विवरण वायवीय-संहिता में इस प्रकार मिलता है—'श्री गुरुदेव अपनी प्रसन्नता से दृष्टि अथवा स्पर्श के द्वारा एक क्षण में ही स्वरूप स्थित कर देते हैं।' रुद्रयामल में कहा गया है कि भगवान् शम्भु के चरणद्वय से सम्भूत दीक्षा ही शाम्भवी दीक्षा है। चरणद्वय का अर्थ है—शिव और शक्ति दोनों के चरण। सहस्रदल-कमल की कर्णिका पर चन्द्र-मण्डल की सुधा-धारा से आप्लावित उन चारों चरणों का चिन्तन करना चाहिए। तीन चरणतीन गुणों के द्योतक हैं एवं त्रिगुण तथा परमानन्द-स्वरूप हैं। उनके वर्ण शुक्ल, रक्त मिश्र एवं वर्णातीत हैं। गुरु की दृष्टिमात्र से शिष्य का सहस्रार प्रफुल्लित हो जाता है और वह समाधिस्थ होकर कृत-कृत्य हो जाता है।

मान्त्री दीक्षा अथवा आणवी दीक्षा मन्त्र, पूजा, आसन, न्यास, ध्यान आदि से सम्पन्न होती है, इसमें गुरुदेव शिष्य को मन्त्रोपदेश करते हैं। उपर्युक्त दोनों दीक्षाओं से तत्काल सिद्धि प्राप्त हो जाती है, परन्तु मान्त्री दीक्षा से उसका अनुष्ठान करने पर क्रमशः सिद्धि होती है, फल सबका एक ही है। सभी साधक शक्तिपात के पात्र नहीं हो सकते। मान्त्री दीक्षा से शक्तिपात की पात्रता प्राप्त होती है और मन्त्र देवतात्मक शक्ति से सिद्धि भी प्राप्त होती है।

कहीं-कहीं आगमों में दीक्षा के दस भेद मिलते हैं, यथा—स्मार्ती, मानसी, यौगी, चाक्षुषी, स्पार्शिकी, वाचिकी, मान्त्रिकी, हौत्री, शास्त्री और अभिषेचिका।

स्मार्ती —

दीक्षा जब गुरु और शिष्य दोनों भिन्न-भिन्न देश में स्थित हों, तब होती है। गुरु शिष्य का स्मरण करता है और उसके त्रिविध पापों का विश्लेषण करके भस्म कर देता है और पुनः दिव्य-पुरुष की सृष्टि करके भूत-शुद्धिमें वर्णित लययोग के क्रम से उसे परम शिव में स्थित कर देता है।

मानसी —

दीक्षा का प्रकार भी स्मार्ती दीक्षा के समान ही है। अन्तर केवल इतना है कि स्मार्ती-दीक्षामें शिष्य और गुरु पास-पास नहीं रहते और मानसी दीक्षा में दोनों की उपस्थिति रहती है।

यौगी—

दीक्षा उसे कहते हैं, जिसमें योगी गुरु योगोक्त-पद्धति से शिष्य के शरीर में प्रवेश करके उसकी आत्मा को अपने शरीरमें लाकर एक कर लेता है।

चाक्षुषी —

दीक्षा में श्री गुरुदेव 'मैं स्वयं शिव हूँ' ऐसा निश्चय करके करुणार्द्र दृष्टि से शिष्य की ओर देखते हैं। इतने में शिष्य के सारे दोष नष्ट हो जाते हैं और वह दिव्यत्व को प्राप्त हो जाता है।

स्पार्शिकी—

दीक्षा का विधान यह है कि गुरु पहले अपने दाहिने हाथ पर सुगन्ध द्रव्य द्वारा मण्डल का निर्माण करे, तत्पश्चात् वह उस पर विधिपूर्वक भगवान् शिव की पूजा करे। इस प्रकार वह 'शिवहस्त' हो जाता है। 'मैं स्वयं परम शिव हूँ' यह निश्चय करके श्री गुरुदेव अनन्यचित्त से शिष्य के सिर का स्पर्श करते हैं। उस 'शिवहस्त' के स्पर्श मात्र से शिष्य का शिवत्व अभिव्यक्त हो जाता है।

वाचिकी—

दीक्षा में गुरुदेव पहले अपने गुरुका चिन्तन करते हैं। अपने मुख को उनका मुख समझकर शिष्य के शरीर में न्यासादि करके विधि-विधान के साथ मंत्र दान करते हैं।

मान्त्रिकी—

दीक्षा में गुरुदेव स्वयं अन्तः न्यास आदि करके 'मंत्र-शरीर' हो जाते हैं और अपने शरीर में से शिष्य के शरीर में मन्त्र का संक्रमण चिन्तन करते हैं।

हौत्री—

दीक्षा में पहले कुण्ड में या वेदी पर अग्नि स्थापन होता है। वहाँ षडध्वाका संशोधन करके होम से ही दीक्षा सम्पन्न होती है।

शास्त्री—

दीक्षा सामग्री से सम्पन्न नहीं होती। भगवत् पूजा के प्रेमी, भक्त, सेवा परायण शिष्य को उसकी योग्यतानुसार शास्त्रीय पद्धति के द्वारा दीक्षा दी जाती है।

अभिषेचिका—

दीक्षा का प्रकार यह है कि पहले गुरुदेव एक घट में शिव और शक्ति की पूजा करते हैं, फिर उसके जल से शिष्य का अभिषेक करते हैं, यही अभिषेचिका दीक्षा है। ये सब शक्तिपात के प्रकार भेद हैं।

शारदा पटल में दीक्षा के चार भेदों का विस्तार से वर्णन है। वे चार भेद हैं—क्रियावती, वर्णवती, कलावती और वेधमयी।

क्रियावती—

दीक्षा में कर्मकाण्ड का पूरा उपयोग होता है। स्नान, सन्ध्या, प्राणायाम, भूतशुद्धि, न्यास, ध्यान, पूजा, शंख स्थापन आदि से लेकर शास्त्रोक्त पद्धति से हवन पर्यन्त कर्म किये जाते हैं। षडध्वा के शोधन क्रम से पृथक-पृथक आहुति देकर शिवमें विलीन करके पुनः सृष्टि क्रम से शिष्य का चैतन्ययोग सम्पादित होता है। गुरु शिष्य से अपनी एकता का अनुभव करता हुआ आत्मविद्या का दान करता है। गुरु-मन्त्र प्राप्त करके शिष्य धन्य-धन्य हो जाता है।

वर्णमयी—

दीक्षा न्यास क्या है। अकारादि वर्ण प्रकृति पुरुषात्मक है। शरीर भी प्रकृति पुरुषात्मक होने के कारण वर्णात्मक ही है। इसलिए पहले समस्त शरीर में वर्णों का सविधि न्यास किया जाता है। श्री गुरुदेव अपनी आज्ञा और इच्छा शक्ति से उन वर्णों को प्रतिलोमविधि से अर्थात् संहार-क्रम से विलीन कर देते हैं। यह क्रिया सम्पन्न होते ही शिष्य का शरीर दिव्य हो जाता है। ऐसी स्थिति होने के पश्चात् श्री गुरुदेव पुनः शिष्य को पृथक् करके दिव्य शरीर की सृष्टि क्रम से रचना करते हैं। शिष्य में परमानन्द स्वरूप दिव्य भाव का विकास होता है, और वह कृत-कृत्य हो जाता है।

कलावती—

दीक्षा की विधि निम्नलिखित है। मनुष्य के शरीर में पाँच प्रकार की शक्तियां प्रतिष्ठित हैं। पैर के तलवे से जानुपर्यन्त निवृत्ति शक्ति है। जानु से नाभि पर्यन्त प्रतिष्ठा शक्ति है, नाभि से कण्ठ पर्यन्त विद्या शक्ति है, कण्ठ से ललाट पर्यन्त शान्ति-शक्ति है, ललाट से शिखा पर्यन्त शान्त्यतीत कला-शक्ति है। संहार क्रम से पहली को दूसरी में, दूसरी को तीसरी में और अन्ततः कला को शिव में संयुक्त शिष्य शिवरूप कर दिया जाता है। पुनः सृष्टि-क्रमसे इसका विस्तार किया जाता है, और शिष्य दिव्य भाव को प्राप्त हो जाता है।

वेधमयी—

दीक्षा षट्-चक्र-वेधन ही है। जब गुरु कृपा करके अपनी शक्ति से शिष्य का षट्-चक्र-वेध कर देते हैं, तब इसी को वेधमयी दीक्षा कहते हैं। गुरु पहले शिष्य के छः चक्रों का चिन्तन करते हैं और उन्हें क्रमशः कुण्डलिनी शक्ति में विलीन करते हैं। छः चक्रों का विलयन बिन्दु में करके तथा बिन्दु को कला में, कला को नाद में, नाद को नादान्त में, नादान्त को उन्मनी में, उन्मनी को विष्णु मुख में और तत्पश्चात् गुरु मुख में संयुक्त करके अपने साथ ही उस शक्ति को परमेश्वर में मिला देते हैं। गुरु की इस कृपा से शिष्य का पाश छिन्न-भिन्न हो जाता है। उसे दिव्य बोध की प्राप्ति होती है और वह सब कुछ प्राप्त कर लेता है। इस प्रकार यह वेधमयी दीक्षा सम्पन्न होती है।

शास्त्रों में विशेष करके तन्त्र ग्रन्थों में क्रम दीक्षा का भी वर्णन आया है। इसकी बड़ी महत्ता है। इसमें शुद्धि तथा सिद्धापरिच्छिन्नता आदि की कोई आवश्यकता नहीं होती, यह केवल गुरु कृपा साध्य है। दिन, महीना, या वर्ष के क्रम से दीक्षा और अभिषेक होते हैं। क्रमशः साधक का अधिकार बढ़ता जाता है और वह एक दीक्षा से दूसरी दीक्षा के स्तर में पहुँचता जाता है। इस दीक्षा की पद्धति साधारण लोगों के लिए उपयोगी नहीं है। इसलिए गुरु और शास्त्र के द्वारा ही इसका अधिगम प्राप्त करना चाहिए। इसी प्रकार आम्नायभेद से भी दीक्षा का भेद होता है। वैदिक दीक्षा, तान्त्रिक दीक्षा, मिश्र दीक्षा, स्त्री दीक्षा, मात्र दीक्षा, स्वप्न दीक्षा, महा दीक्षा आदि अनेकों प्रकार की दीक्षायें हैं जो भगवत्कृपा के फलस्वरूप अधिकारी साधकों को प्राप्त होती हैं। बिना दीक्षा लिए कोई दीक्षा का महत्व जान नहीं सकता।

दीक्षा के पश्चात् गुरु शिष्य के प्रति मर्यादाओं का उपदेश करते हैं। शास्त्रों में उसे 'समय' कहा गया है। शिष्य उन्हें धारण करता है और वैसे ही अपना जीवन बनाता है। बिना दीक्षा लिए यह मानव शरीर अपावन ही है। यहाँ तक कहा गया है कि बिना दीक्षा के किसी भी देवता को स्पर्श नहीं करना चाहिए। इसलिए मनुष्य ईश्वर की कृपा को प्राप्त करके, सद्गुरु से दीक्षा लेकर अपना जीवन साधन से देव तुल्य बनावें।

—०—

भगति बिगाड़ी कामियाँ, इन्द्री केरैं स्वादि।
हीरा खोया हाथ सैं, जनम गँवाया बादि॥

भक्ति को कामी लोगों ने बिगाड़ डाला है, इन्द्रियों के स्वाद में पड़कर और हाथ से हीरा गिरा दिया, गँवा दिया। जन्म लेना बेकार ही रहा उनका। —सन्त कबीर

जीव का परम ध्येय

डा० श्री विष्णुदत्त शर्मा, बनारस

ईश्वर ही सभी प्राणियों के आत्मा हैं। वह शान्त, प्रेम, आनन्द, कृपा, दया और कल्याण का एक मात्र कभी खाली न होने वाला खजाना है। उस एक के आश्रय से सभी वस्तुयें स्वतः मिल जाती है। ऐश्वर्य, अमरत्व, सौन्दर्य सभी का वह अनन्त सागर है। वही सबका परम पिता परम गुरु परम सुहृद और परम सम्पत्ति है, ऐसा जानकर सबके साक्षी उस मायातीत परमात्मा का ही स्मरण करना चाहिए। और यह विश्वास करना चाहिए कि हम उसके अपने हैं। वह निरन्तर हमारे साथ और हर समय हमारी सहायता के लिये हर जगह तैयार है। वह हमारा अपना आत्मा ही है। जब जीव अपने आत्म स्वरूप को भूल जाता है, तब वह अपने को अलग मान बैठता है, इसी से उसे संसार के चक्कर में आ पड़ता है और जन्म पर जन्म तथा मृत्यु पर मृत्यु प्राप्त होती है। यह मनुष्य योनि ज्ञान और विज्ञान का मूल स्रोत है। जो इसे पाकर भी अपने आत्म स्वरूप परमात्मा को नहीं जान लेता, उसे कहीं किसी भी योनि में शान्ति नहीं मिल सकती। जब तक हमारी विषयों में आसक्ति है तब तक चित्त की चंचलता नहीं मिट सकती और चित्त की चंचलता रहते किसी भी बाह्य स्थिति में कभी शान्ति नहीं मिल सकती। अतः विषय आसक्ति को नष्ट करने का प्रयत्न करते रहना चाहिये। गीता में भगवान कृष्ण ने विषयों को 'दुःख योनि', विषय रूप संसार को 'असुख' और दुःखालय बतलाया है। विषयों के अभाव में दुःख है, उसके उपार्जन में दुःख है, उसकी प्राप्ति में दुःख है, परिणाम में दुःख है, संस्कार में दुःख, अभाव में दुःख प्रत्यक्ष है। उपार्जन में कितना क्लेश होता है, इसे धन के पीछे पड़े हुये सभी मनुष्यों को ज्ञात है, दिन रात चिन्ता की भट्ठी में जलना पड़ता है कोई विषय ऐसा नहीं जो जलाने वाला न हो वस्तुतः विषय मात्र परिणाम में दुःखदायी है ही। इनमें सुख की प्रतीति तो केवल अज्ञानवश भोग काल में होती है जैसे खाज को खुजलाते समय सुख मालूम होता है, परन्तु परिणाम में जलन होने पर बड़ा दुःख होता है। सांसारिक सुख के लिये जो चेष्टायें की जाती है, उनमें घन क्लेश है, और जिस परम सुख के उद्देश्य से वे की जाती है, उसके ठीक विपरीत परम दुःख देती है, किन्तु कर्मों से निवृत्त हो जाने में किसी प्रकार का भय नहीं है यह सोच कर बुद्धिमान मनुष्य को चाहिये कि

किसी प्रकार के कर्म अथवा उसके फलों का संकलन करें। जगत के सभी स्त्री पुरुष इसलिए कर्म करते हैं कि उन्हें सुख मिले और उनका दुःखों से पिण्ड छूटे, परन्तु उन कर्मों से न तो उनका दुःख दूर होता है और न उन्हें सुख की ही प्राप्ति होती है। जो मनुष्य अपने को बहुत बड़ा बुद्धिमान मानकर कर्म के चक्करों में पड़े हुए हैं, उनको विपरीत फल मिलता है—यह बात समझ लेनी चाहिए, साथ ही यह भी जान लेना चाहिए कि आत्मा का स्वरूप अत्यन्त सूक्ष्म है, जाग्रत, स्वप्न, सुषुप्ति- इन तीनों अवस्थाओं तथा इनके अभिमानियों से विलक्षण है। यह जानकर इस लोक में देखे और परलोक के सुने विषय-भोगों से विवेक बुद्धि द्वारा अथवा पिण्ड छुड़ा कर और ज्ञान व विज्ञान का सहारा लेकर उन प्रभु की शरण ले लेना चाहिए। जो लोग योग-मार्ग का तत्व समझने में निपुण हैं, उन्हें भली भांति समझ लेना चाहिए कि जीव का सबसे बड़ा स्वार्थ और परमार्थ केवल इतना ही है कि वह ब्रह्म और आत्मा की एकता का अनुभव करले। प्रभु के साथ युक्त हो जाना, उन्हें यथार्थ में पा लेना या उन जैसा हो जाना यही जीव का परम ध्येय है। जब तक जीव इस स्थिति में नहीं पहुँच जायगा, तब तक न उसको तृप्ति होगी, न शान्ति मिलेगी, न भटकना बन्द होगा और न किसी पूर्ण, नित्य, आनन्द का तत्व के संयोग की अतृप्त और

अतृप्त आकांक्षा की ही पूर्ति होगी। इस पूर्ण के संयोग का नाम ही योग है। इसलिए बुद्धिमान मनुष्य को उचित है कि विषय चिन्तन में फंसे हुए चित्त को तीव्र अभ्यासयोग द्वारा धीरे-धीरे अपने वश में लावे। यमादि योग साधनों के द्वारा श्रद्धापूर्वक अभ्यास करता हुआ जीव अपने शुद्ध अन्तःकरण द्वारा परमात्मा का साक्षात्कार कर उस अद्वितीय ब्रह्मपद को प्राप्त हो जाता है, जहां पहुँचकर योगी फिर लौट कर नहीं आता और काल (मृत्यु) के दायरे से परे हो जाता है।

यह पूर्ण प्राप्ति का प्रयत्न जिस क्रिया के साथ जुड़ता है, वही योग बन जाता है। कर्मयोग, ज्ञानयोग, भक्तियोग, ध्यानयोग (अष्टांगयोग), सांख्ययोग, राजयोग, मन्त्रयोग, लययोग, हठयोग, सिद्धयोग आदि इसी के नाम हैं। ये सब योग भिन्न-भिन्न हैं और इनका परस्पर मेल भी है। यों तो किसी भी योग में ऐसी बात नहीं है कि यह दूसरे की बिल्कुल अपेक्षा न रखता हो, परन्तु प्रधानता गौणता का अन्तर तो है ही। कुछ योगों का सुन्दर समन्वय गीता में सुवर्णित है। गृहस्थाश्रम निर्वाह करने वालों के लिए ध्यान योग, भक्तियोग, कर्मयोग, ज्ञानयोग आदि उत्तम हैं। ये अपेक्षाकृत बहुत ही निरापद हैं परन्तु सभी योगों में परम आवश्यकता है एक शान्त, शीलवान्, शास्त्रज्ञ एवं अनुभवी गुरु की।

आश्रम समाचार—

हिमाचल-प्रदेश में योग-प्रचार की धूम

● एक दर्शक साधक द्वारा

हिमाचल-प्रदेश में खास-खास स्थानों पर श्री सिद्ध गुफा योग-प्रचार मण्डल विद्यमान हैं। इस प्रान्त के मुख्य कार्य-कर्ता सद्गुरुदेव योगिराज श्री चन्द्रमोहन जी महाराज के प्रिय शिष्य श्रीकृष्णचन्द्र शर्मा (जो कि आजकल रैत जिला कांगड़ा में स्टेट बैंक के मैनेजर है) हैं। श्री कृष्णचन्द्र शर्मा बहुत ही कार्य-कुशल, दैवी सम्पत्ति से युक्त नव-युवक हैं। इन्होंने हिमाचल-प्रदेश में कांगड़ा, नूरपुर-मसूरी मंडी और कुल्लू-कोलार जिला सिरमौर आदि में भावुक-भक्त तैयार किये एवं स्थान-स्थान पर योग-प्रचार मण्डलियां कायम की है। श्रीकृष्णचन्द्र शर्मा हिमाचल योग-प्रचार कार्य-क्रमों के हेतु अपने सद्गुरुदेव महाराज श्री से कई वर्षों से प्रार्थना कर रहे थे, किन्तु श्री महाराज जी अपनी व्यस्तताओं एवं विवशताओंवश इधर के कार्यक्रम नहीं रख सके थे। परन्तु अबकी बार अपने प्रिय शिष्य श्रीकृष्णचन्द्र शर्मा के बार-बार आग्रह करने पर श्री महाराज जी ने हिमाचल-प्रदेश का कार्यक्रम रख दिया। सबसे पहला कार्यक्रम नूरपुर में रखा गया। नूरपुर योग-प्रचार कार्यक्रम के लिए महाराज जी ता० १३ नवम्बर, सन् १९७७ की शाम को दिल्ली से काश्मीर मेल में सवार होकर १४-११-७७ को प्रातः लगभग ६॥ बजे पठानकोट रेलवे स्टेशन पहुंचे।

पठानकोट में भव्य स्वागत——

काश्मीर एक्सप्रेस ज्योंही पठानकोट स्टेशन

[पिछले पृष्ठ का शेष]

अध्यात्म मार्ग का पथप्रदर्शक या गुरु सहज ही नहीं मिलता। भगवत् कृपा से ही अनेक जन्मार्जित पुण्य पुंज के फलस्वरूप अनुभवी और दयालु सद्गुरु मिलते हैं। सच्चे सत्संग के लिए जब हृदय में तड़पन होगी, जब संत मिलन के लिए प्राण व्याकुल हो उठेंगी, जब योग जिज्ञासा का अग्नि अन्तःकरण के मल को जलाती दौड़ेगी प्रभु की ओर तो वे प्रभु स्वयं व्याकुल होकर उसे बुलाने के लिए संत रूपी मेघ बनकर अमृत वर्षा करेंगे।

अतः जब भगवत्कृपा से योगी गुरु मिल जायें तब उनकी प्रत्येक आज्ञा को महत्त्वपूर्ण समझ कर श्रद्धा पूर्वक उसका अनुसरण करना चाहिए और उनके उपदेशानुसार इस पवित्र योग मार्ग में जिस प्रकार पुरुषार्थ एवं साधन कहा गया है, लग जाना चाहिए जिससे तत्पर चित्त शीघ्र ही परमात्मा को प्राप्त कर लेता है। यही सब दुःखों से सदा के लिए मुक्त करके नित्य सनातन परमानन्द देने वाली अवस्था है। यही परम सत्य है और इस परम सत्य को पाना ही मनुष्य जीवन का लक्ष्य है।

पर पहुँची, वैसे ही वहाँ पर स्वागत को आई भीड़ ने जय-जयकार का उद्घोष आरम्भ कर दिया। श्रीकृष्णचन्द्र शर्मा के साथ हिमाचलवासी उनके अन्य गुरु-भाई एवं प्रेमियों की यह भीड़ पुष्प-हार लेकर उपस्थित थी। ये सभी प्रेम व श्रद्धा से भाव-विभोर थे। स्टेशन पर श्री महाराजजी को पुष्प-मालाएँ अर्पित कर आकाश को जय-ध्वनि से निनादित करते हुए सभी ने साष्टांग-प्रणिपात से गुरुदेव का हर्ष अभिनन्दन किया। सभी आगत लोगों के नेत्रों से प्रेमाश्रु धारा बह रही थी। श्री महाराज जी के बार-बार उठाने पर भी प्रेम-विह्वलतावश वह उठ नहीं पाते थे। अन्य यात्रियों की भीड़ भी गाड़ी से उतर कर आश्चर्यचकित होकर इस दृश्य को देखती जा रही थी। यथा-तथा स्टेशन की भीड़ से बाहर निकल कर श्री महाराज जी को पुष्प-हारों से लदी कार में बिठलाया गया एवं लम्बे सफर की थकान को दूर करने के लिए श्री मुन्शीराम व बलराम जी के मकान पर ठहराया गया। श्री मुन्शीराम के सारे परिवार ने श्री गुरुदेवजी से योग-दीक्षा प्राप्त की है। श्री महाराज जी ने कुछ देर यहाँ रुककर मार्ग की थकान दूर की और फिर नूरपुर के लिए चल दिये। मार्ग में कुछ वन-प्रदेश में शौच, स्नानादि से निवृत्त होकर ११ बजे दोपहर को गुरुदेव जी नूरपुर पहुँचे।

नूरपुर में स्वागत का दृश्य—

ज्योंही श्री महाराज जी की कार नूरपुर पहुँची, वहाँ के स्वागत का दृश्य अति ही निराला था। कई-सौ की तादाद में पुरुष और स्त्रियाँ हाथों में पुष्प-हार लिए उत्कण्ठित मन से अपने गुरुदेव जी की सड़क पर खड़े बाट जोह रहे थे। सड़क पर तोरण-द्वार बड़ा ही सुन्दर सजाया हुआ था। श्री महाराज जी की कार के पहुँचते ही बैण्ड-बाजों ने मधुर ध्वनियाँ प्रसारित कीं। उधर सत्संगियों की जय-ध्वनि का घोष भी निराला था। सत्संग प्रेमियों ने पुष्प मालायें अर्पित कर अपने गुरुदेवका अभिनन्दन किया एवं सङ्कीर्तन और मधुर भजनों की ध्वनियों को उच्चारित करते हुए श्री महाराज जी को आवास स्थान पर ले गये। श्री महाराजजी के आवास स्थान को तोरण द्वार लगा कर भली प्रकार सजाया गया था। आवास स्थान श्री महाराज जी के मनोनुकूल पहाड़ की चोटी पर श्री रूपलाल की कोठी पर था, जिसको देखकर महाराज जी का मन बहुत ही प्रसन्न हुआ। इसी स्थान पर मकान के प्रांगण में योग-प्रचार की स्टेज लगाई गई थी। तीन दिन तक यहाँ पर सत्संग योग-प्रचार कार्यक्रम चला। श्री महाराज जी के साथ अबकी बार अन्य ब्रह्मचारियोंके साथ-साथ रुहासा जिला मेरठ के निवासी पण्डित इन्दु शर्मा भजनोपदेशक भी आये थे। समय-समय पर उनके भजन, कथा-सङ्कीर्तन आदि होते रहे। पं० इन्दु शर्मा गद्गद् कण्ठ से श्री प्रभुजी की एवं श्री सद्गुरुदेव जी की महिमा

सुनाते थे, जिसको सुनकर श्रोता लोगोंके मनों में पर्याप्त भाव-वृद्धि हुई। श्री महाराज जी ने अपने तीन दिनके कार्यक्रम में लोगोंको भली प्रकार समझाया कि योग किसको कहते हैं और किस प्रकार किया जा सकता है। आपने बताया कि मनुष्य के परम-कल्याण का साधन योग ही है।

एक पहाड़ी गाँव की यात्रा—

नूरपुर से लगभग २० मील दूर बदुही गाँव में पं० पृथ्वीराज तिवारी निवास करते हैं। उन्होंने अपने आराम के लिए नई कोठी बनाई है, उसका उद्घाटन कराने के लिए श्री गुरुदेवजी को बुलाया गया था। श्री महाराज जी ने अपने प्रेम-विभोर बच्चोंके साथ इस ग्राम की यात्रा घोड़े पर चढ़कर की। पूरे मार्ग में सङ्कीर्तन की ध्वनि चलती रही एवं बैण्ड-बाजे वाले सुमधुर ध्वनियाँ और नृत्य करते चल रहे थे, दृश्य अत्यन्त सुन्दर था। श्री महाराज जी ने पं० पृथ्वीराज तिवारी के मकान का उद्घाटन किया और शाम को लौट कर नूरपुर वापिस पहुँच गये।

कोटला में दर्शनीय स्वागत—

नूरपुर से लगभग १६ मील की दूरी पर कोटला नामक पवित्र कस्बा है। जिसमें श्री महाराज जी के पुरातन शिष्य पं० चुन्नीलाल भारद्वाज निवास करते हैं। पण्डित जी पहले दिल्ली में रेलवे आफिस के कर्मचारी थे। रिटायरमेन्ट के बाद यह अपने गाँव कोटला में आकर रहने लग गये हैं। इनको इधर रहते १०-१२ वर्ष हो गये न पत्र व्यवहार था और न महाराज जी को ही ठीक मालूम था कि जिला कांगड़ा में कहाँ निवास करते हैं। किन्तु प्रचार की चर्चा फैलने पर इनको भी महाराज जी के नूरपुर आगमन का पता चला तो इन्होंने अपने घर कोटला श्री महाराज जी को बुलाने का आग्रह किया एवं श्री महाराज जी अपने पुराने बहुत दिनों से बिछुड़े बच्चे का आग्रह स्वीकार कर कोटला पधारे। पं० चुन्नीलाल भारद्वाज के घर स्वागतार्थ भीड़ का दृश्य भी दर्शनीय था। श्री महाराज जी को लौटने की जल्दी थी किन्तु फिर भी पं० चुन्नीलाल के पवित्र प्रेम से बँधे से होकर श्री महाराज जी दो घंटे उनके मकान पर रहे बाद में भावभीनी विदाई लेकर नूरपुर वापस आ गये। हिमाचल प्रदेश के सत्संगियों के प्रोग्रामों को पूरा करते हुए अधिक व्यस्तता के कारण श्री महाराज जी ता० २७-११-७७ की शाम को अपने अगले प्रोग्रामों की पूर्णता के कारण लौट पड़े। यद्यपि इस प्रान्त के प्रोग्राम कई और शेष थे किन्तु श्री महाराज जी को अन्यान्य अगले प्रोग्रामों की जल्दी थी अतः हिमाचलके शेष प्रोग्रामों को कुछ समयके लिए स्थगित कर दिया गया। कुछ भी हो जितने दिन इस प्रान्त में गुरुदेव जी रहे उतने ही दिन भाव-विभोर अपने बच्चों के संकीर्तन नाम-ध्वनि बड़े प्यार के साथ सुनते रहे। ❀❀

❀ श्री सद्गुरुदेव जी के आगामी योग-प्रचार कार्यक्रम ❀

ता० १-१२-७७ से ता० ४-१२-७७ तक	योग-प्रचार कार्यक्रम, लाडवा पता—द्वारा ला० मथुराम बठमरिया मु० पो० लाडवा, जिला कुरुक्षेत्र।
ता० ५-१२-७७ को	कोलर के लिए प्रस्थान
ता० ६-१२-७७ को	कोलर योग-प्रचार कार्यक्रम द्वारा श्री लालसिंह P.T.I. मास्टर, कोलर
ता० ७-१२-७७ को	पटना के लिए प्रस्थान
ता० १०-१२-७७ से ता० ११-१२-७७ तक	आल इण्डिया योग-कान्फ्रेन्स, पटना
ता० १२-१२-७७ से ता० १८-१२-७७ तक	योग-प्रचार कार्यक्रम पटना द्वारा श्री व्रजनन्दनसिंह सिन्हा I.A.S. (Retd.) कीर्ति-कुटीर, रोड नं० २, राजेन्द्र नगर, पटना-६
ता० १६-१२-७७ को	कलकत्ता के लिए प्रस्थान
ता० २०-१२-७७ से ता० ३१-१२-७७ तक	योग-प्रचार कार्यक्रम, कलकत्ता द्वारा ला० रामानन्द बेरीवाला ११२, तुलापट्टी, काटन स्ट्रीट, कलकत्ता-७
ता० १-१-७८ से ता० ८-१-७८ तक	योग-प्रचार कार्यक्रम, धनबाद पता—द्वारा ला० रामधनदास अग्रवाल पानी की टंकी के पास, मु०—झरी, धनबाद (बिहार)

Sidhayoga Regd No. L. Ag. 008

योग के सिद्धान्त और शिक्षाओं का प्रतिपादक मासिक

सिद्ध योग

संस्थापक संचालक तथा संरक्षक
योगिराज अवधूत श्री चन्द्रमोहन जी महाराज

० धर्म की आवश्यकता ०

धर्म की उपासना किये हुए भी हम धर्म को भूल नहीं सकते। धर्म जीवन को दिशा और विश्वास प्रदान करता है। इसके सहारे हम जीते हैं। हर बड़े कामों पीछे धर्म का आधार होता है। धर्म चाहे वह कोई भी धर्म क्यों न हो, हमारे जीवन को पूर्णता और सन्तोष प्रदान करता है। हमारे आध्यात्मिक अस्तित्व के लिए धर्म वैसा ही आवश्यक है, जैसा पार्थिव अस्तित्व के लिए कर्म।

× × ×

सच्चाई ईश्वर को प्रसन्न करने का साधन है। मैंने किसी ऐसे व्यक्ति को नहीं देखा जो सत्य पर चलकर पथ-भ्रष्ट हो गया हो।

—एक महात्मा

× × ×

धैर्य, क्षमा, मन का निग्रह, चोरी न करना, बाहर-भीतर की शुद्धि, इन्द्रियों का संयम, सात्त्विक बुद्धि, अध्यात्म-विद्या, यथार्थ भाषण और क्रोध न करना ये धर्म के दस लक्षण हैं।

—मनु०

मुद्रक—देवीप्रसाद शर्मा 'विमल' कर्मयोगी प्रिंटिंग प्रेस, बसई काजी, राजामंडी, आगरा-२